

UNIVERSAL  
LIBRARY

**OU\_184105**

UNIVERSAL  
LIBRARY





OUP—707—25-4-81— 10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 5294 592  
577 -

Accession No. P.G.S3061

Author

Title - ~~ब्रामदुर्गा~~ शशीता . 1906.

This book should be returned on or before the date last marked below





# आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

---

ग्रन्थाङ्कः ५२

नीलकण्ठविरचितटीकासमेता

## श्रीमद्भणेशगीता ।

---

एतत्पुस्तकम्

आनन्दाश्रमस्थपण्डितैः संशोधितम् ।

---

तच्च

हरि नारायण आपटे

इत्यनेन

पुण्याख्यपत्तने

आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशितम् ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८२८

---

स्विस्ताब्दाः १९०९

( अस्य सर्वेऽधिकारा राजशासनानुसारेण स्वायत्तीकृताः । )

मूल्यं रूपकद्वयम् ( २ )



## आदर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।

---

अथास्या नीलकण्ठविरचितटीकासमेतायाः श्रीमद्गणेशगीतायाः पुस्तकानि यैः परहितैकपरतया संस्करणार्थं प्रदत्तानि तेषां नामादीनि पुस्तकानां संज्ञाश्च प्रकाशयन्ते—

(क.) इति संज्ञितम्—पुण्यपत्तनस्थानां वे० शा० सं० रा. रा. शेंडचे इत्यु-  
पाह्वासुदेवशास्त्रिणाम् ।

(ख.) इति संज्ञितम्—पुण्यपत्तनस्थानां रा. रा. कृष्णाजी गणेश पाटणकर  
इत्येतेषाम् ।

(ग.) इति संज्ञितम्—दुष्टितं पुण्यपत्तनस्थानां वे० शा० रा. रा. मोरेश्वर  
रावजी दीक्षित इत्येतेषाम् ।

(घ.) इति संज्ञितम्—श्रीनृसिंहवाडीस्थानां वे० शा० रा. रा. गणेशशास्त्री  
कवीश्वर इत्येतेषाम् ।

समाप्तेयमादर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।

---



# अथ गणेशगीताश्लोकान्तर्गतविषयाणामध्याय—

## क्रमेणानुक्रमः ॥

| विषयाः                                       | श्लोकाङ्काः | विषयाः                                      | श्लोकाङ्काः |
|--|-------------|---|-------------|
| <b>कर्मसाधनप्रधाना चतुरध्यायी ।</b>          |             | शस्त्रसंघातादिभिरात्मस्वरूपस्य विका-        |             |
| <b>प्रथमोऽध्यायः ।</b>                       |             | राभावप्रतिपादनम् ... .. ३०-३४               |             |
| व्यासं प्रति सूतकृतप्रश्नः ... .. १-२        |             | वासनायां छन्देदे कारणाभिधानम् ... ३५        |             |
| व्यासस्य सूतकृतप्रश्नोत्तरारम्भः ... ३       |             | मयि कर्माण्यर्पयतः पुरुषस्य कर्मणा          |             |
| व्याससूतसंवादे वरेण्यगजाननसंवादः ।           |             | चित्तशुद्धिस्ततो विज्ञानप्राप्तिरिति-       |             |
| विघ्नेश्वरं प्रति वरेण्यस्य योगश्रवण-        |             | निरूपणम् ... .. ३६                          |             |
| विषयकप्रार्थना ... .. ४                      |             | विहितकर्मणस्त्यागाभावकथनम् ... ३७           |             |
| वरेण्यं प्रति श्रीगजाननस्योक्तिः ... ५       |             | स्वकर्मत्यागिनां सिध्यभावादिनिरूपणम् ३८     |             |
| वैराग्योत्पादनाय पराभिमतयोगानां              |             | स्वधर्मातुष्टानेन शोधितहृदयस्यैकात्म्य-     |             |
| निषेधप्रतिपादनम् । ... .. ६                  |             | ज्ञानावाप्तिबोधनम् ... .. ३९                |             |
| कैवल्यस्य साधकं कुल जनैतन्मतस्य              |             | ऐकात्म्यभावानुरूपद्वितीययोगनिरूपणम् ४०-४५   |             |
| निषेधाभिधानम् ... .. ७                       |             | संयमरूपयोगस्याभिधानम् ... .. ४६-४७          |             |
| सिद्धाभियोगनिरासकथनम् ... .. ८               |             | असंप्रज्ञातयोगनिरूपणम् ... .. ४८            |             |
| इन्द्रपदाद्यवाप्तिरूपयोगस्य योगत्वा-         |             | पूर्वोक्तयोगस्य फलकथनम् ... ४९ ५०           |             |
| भावनिरूपणम् ... .. ९-११                      |             | भवणादिना ज्ञानस्यानुष्ठेयमहायोगस्य          |             |
| ज्ञानयोगाभिधानम् ... .. १२                   |             | निरूपणम् ... .. ५१                          |             |
| ज्ञानवर्तां प्रशंसा ... .. १३                |             | स्थिरशुद्धिलक्षणम् ... .. ५२-५४             |             |
| योगस्य नानाविधत्वविवरणम् ... १४-१५           |             | इन्द्रियजयोपायाभिधानम् ... .. ५५            |             |
| परैरद्वैजितानां योगिनां मनसो भिक्कि-         |             | यतमानस्य विपश्चितोऽपीन्द्रियाणि             |             |
| याराहित्यनिरूपणम् ... .. १६                  |             | मनो हरन्तीति कथनम् ... .. ५६                |             |
| ज्ञानिनो मनोविकाराभावे हेत्वभिधानम् १७-१८    |             | इन्द्रियाणि संयम्य यो युक्त आस्ते स         |             |
| योगश्रवणफलकथनम् ... .. १९                    |             | कृतधीरिति निरूपणम् ... .. ५७                |             |
| अनुत्तमयोगनिरूपणम् ... .. २०                 |             | विषयस्य नेन सङ्गादिद्वारा प्रणाशकथनम् ५८-५९ |             |
| निष्कलानन्दस्वरूपस्यैवाऽऽत्मनो जग-           |             | अतिन्द्रियस्य सुखावाप्तिरितिनिरूपणम् ६०-६३  |             |
| जन्मस्थितिलये कारणत्वाभिधानम् २१             |             | सर्वभूतगन्थां परमार्थतत्त्वलक्षणायां        |             |
| देवतादिभद्रप्रदर्शिका मायऽपि स्वका-          |             | योगी जागर्तीति कथनम् ... .. ६४              |             |
| र्यसंहिताऽहमेवेत्यादिकथनम् ... २२            |             | सत्यकामस्य सर्वे कामाः प्राप्नुवन्तीति      |             |
| मन्दमतिप्रबोधायाऽऽत्मनो मायाशब्द-            |             | निरूपणम् ... .. ६५                          |             |
| लरूपनिरूपणम् ... .. २३                       |             | बुद्धिस्थैर्ये प्रयोजनाभिधानम् ... ६६       |             |
| आत्मनः सकाशादग्न्यादिदेवतानामुत्पत्तिः २४-२६ |             | सर्वकामत्यागपूर्वकं नित्यं नरतस्य           |             |
| आत्मस्वरूपकथनम् ... .. २७                    |             | मुक्तिप्राप्ति कथनम् ... .. ६७              |             |
| श्रेष्ठादीनामपि मायातो मोह इत्यादिक-         |             |   |             |
| थनम् ... .. २८-२९                            |             |   |             |

| विषयाः   | श्लोकाङ्काः |
|--|-------------|
| ब्रह्मविद्याया ज्ञाने कैवल्यपदावासिरिति-<br>बोधनम् ... .. ६८   |             |
| —  |             |
| <b>द्वितीयोऽध्यायः ।</b>   |             |
| श्रीगजाननं प्रति ज्ञाननिष्ठा अथच कर्म-<br>निष्ठा, उभयोर्मध्ये यन्नि श्रेयसकर<br>तद्वदेति वरेण्यभार्थना... .. १ |             |
| कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठयोर्भिन्नाधिकारिकत्व-<br>कथनम् ... .. २  |             |
| नित्यनैमित्तिककर्मत्यागे पुरुषस्य मुख्य-<br>भावनिरूपणम् ... .. ३-५   |             |
| कर्मणा यथा चित्तशुद्धिस्तत्प्रकाराभि-<br>धानम् ... .. ६  |             |
| अनिच्छाकृतकर्णः श्रेष्ठतमत्वकथनम् ... .. ७-८   |             |
| ईश्वरार्पितं कर्म पुरुषं न बध्नातिं सवासनं<br>कर्म देहिने बध्नातीत्यादिकथनम्... .. ९                           |             |
| अनात्मज्ञस्य चित्तशुद्धयर्थं कर्मयोगाव-<br>श्यकत्वप्रतिपादनम् ... .. १०-११                                     |             |
| नित्याकरणात्पुरुषस्य प्रत्यवायोत्पत्तिः ... .. १२  |             |
| हुतावशिष्टभोक्तृणां सर्वपातकेभ्यो<br>मुक्तिरित्यादिनिरूपणम् ... .. १३-१४                                       |             |
| तत्तत्कारणपरम्परया यज्ञस्य सर्वकारण-<br>त्वम् ... .. १५  |             |
| आख्यायिकापूर्वं व्युत्पादितधर्मप्राधा-<br>न्यस्य फलाभिधानम् ... .. १६  |             |
| आत्मतृप्तस्य कर्मयोगानावश्यकत्वप्रतिपाद-<br>नम् ... .. १७-१८   |             |
| वरेण्यस्य फलासक्तिं त्यक्त्वा स्वधर्मे प्रव-<br>नम् ... .. १९  |             |
| अ'त्मज्ञेनापि लोकसंप्रहर्षं कर्म कर्तव्यमि-<br>त्यभिधानम् ... .. २०-२३   |             |
| विहितकर्मत्यागे दोषानिरूपणम् ... .. २४-२५  |             |
| अविदुषां मातिभदं विद्वान्न कुर्वतेत्यादिप्रति-<br>पादनम् ... .. २६-२८  |             |
| गुणविमोहितानामज्ञानिनां कर्मसु सङ्ग इत्या-<br>दिनिरूपणम् ... .. २९   |             |
| ईश्वरबुद्ध्या कर्म कुर्वतो मोक्षावाप्तिनि-<br>रूपणम्... .. ३०-३५   |             |

| विषयाः   | श्लोकाङ्काः |
|--|-------------|
| पुंसः स्वातन्त्र्यमस्वातन्त्र्यं वेति सन्दिहान-<br>स्य वरेण्यस्य श्रीगजाननं प्रति प्रश्नः ३६ |             |
| वरेण्यं प्रति श्रीगजाननस्योक्तिः ... ३७  |             |
| कामक्रोधयोः पापहेतुत्वनिरूपणम् ... ३८-३९   |             |
| कामस्यानर्थहेतुत्वाभिधानम्... .. ४०-४१   |             |
| कामजये पुरुषस्य सर्वफलावासिकथनम् ४२-४३   |             |
| —  |             |
| <b>तृतीयोऽध्यायः ।</b>   |             |
| पूर्वोक्तयोगे वरेण्यस्य श्रद्धामुत्पादयितुं योग-<br>स्यानादित्वनिरूपणम् ... .. १             |             |
| ज्ञानयोगस्याऽऽधुनिकत्वशङ्कानिवृत्तये वशकथ-<br>नपूर्विका स्तुतिः ... .. २-४                   |             |
| गणेशे लोकस्यानीश्वरत्वशङ्का निवर्तयितु<br>वरेण्यप्रश्न. ... .. ५                             |             |
| स्वविग्रहस्यानायनन्तत्वं दर्शयतो गजानन-<br>स्य वरेण्यं प्रति वचनम्... .. ६                   |             |
| मत् एव विष्णवादिदेवतानामाविर्भाव इत्यादि-<br>कथनम् ... .. ७                                  |             |
| विष्णवादीनां स्वप्रभवत्वात्स्वाभिन्नत्वबोध-<br>नम् ... .. ८-९                                |             |
| भगवतो जन्मस्वरूपतःप्रयोजनयोर्निरूप-<br>णम् ... .. १०-१२                                      |             |
| ज्ञाननकृतदिव्यजन्मकर्मवेदनेन भक्तस्य<br>पुनर्जन्माभावकथनम् ... .. १३                         |             |
| पूर्वेषां ब्रह्मविदामप्येतन्मोक्षमार्गाश्रयणे-<br>नैव प्राप्तकैवल्यत्वनिरूपणम् ... १४        |             |
| गजाननकृतं स्वस्य कामनानुसरेण फ-<br>लदातृ-वकथनम्... .. १५-१६                                  |             |
| कर्मजसिद्धेः शान्तिभावित्वेन सर्वेषां कर्म-<br>प्रशुत्तिबोधनम् ... .. १७-१८                  |             |
| चातुर्गुण्यसृष्टिकर्तुं पि भगवर्तस्तदकर्तृ-<br>त्वनिरूपणम् ... .. १९                         |             |
| गजाननकृतं स्वस्य कर्तृत्वज्ञानेनापि ज्ञातुः<br>कर्मबन्धाभावाभिधानम् ... .. २०                |             |
| कर्मविभागबोधस्य फलनिरूपणम् ... २१  |             |
| कर्माकर्मकथनप्रतिज्ञा... .. २२-२३  |             |
| क्रियादितत्त्वप्रदर्शनम् ... .. २४   |             |

| विषयाः   | श्लोकाङ्काः |
|--|-------------|
| निर्दग्धक्रियस्य लक्षणादिकथनम् ...                                       | २५          |
| वैतृष्ण्यप्रकाराणां निरूपणम् ...   | २६-२८       |
| योगमनुतिष्ठतो वितृष्णस्य कर्मलेपत्वा-<br>भावप्रतिपादनम् ...              | २९          |
| रज्ञसंपादनार्थं कर्मावरणप्रकाराभिधा-<br>नम् ...                          | ३०          |
| द्वैतदर्शनप्रबल्यादद्वैतभावनायामनाधि-<br>कारिणां मतनिरूपणम् ...          | ३१-३८       |
| प्राणयज्ञपुरःसरं ज्ञानयज्ञस्य सर्वयज्ञेभ्यः<br>श्रेष्ठत्वप्रतिपादनम् ... | ३९          |
| उक्तज्ञानस्य गुरुशुश्रूषया प्राप्तिकथनम् ...                             | ४०-४१       |
| सत्सङ्गाकरणदोषकथनपूर्वकं सत्सङ्गगुण-<br>वर्णनम् ...                      | ४२-४३       |
| ज्ञानफलनिरूपणम् ...  | ४४-४५       |
| ज्ञानस्य श्रेष्ठत्वकथनम् ...   | ४६-४८       |
| लब्धज्ञानस्य संशयादयो नश्यन्तीत्या-<br>दिकथनम् ...                       | ४९          |
| ज्ञानादपि ब्रह्मापर्णयोगस्य श्रेष्ठत्वनिरू-<br>पणम् ...                  | ५०          |

### चतुर्थोऽध्यायः ।

|  |      |
|--|------|
| संन्यास्तिकर्मयोगयोर्मध्ये यच्छ्रेयस्करं<br>तद्वदेति वरेण्यप्रार्थना ...                                 | १    |
| वियोगाक्रियायोगस्य हेतुयुतं प्रशस्यत-<br>रत्वकथनम् ...   | २-३  |
| कर्मयोगयोर्मध्ये पुरुषेणान्यतरत्सम्यग्नु-<br>ष्ठेयमित्यभिधानपूर्वकं कर्मणि योगा-<br>न्तर्भावनिरूपणम् ... | ४    |
| संन्यास्तिकर्मयोगयोः फलतोऽभेदत्वक-<br>थनम् ...   | ५    |
| वैराग्यरहितस्य कर्मन्यासस्य निन्दाद्य-<br>भिधानम् ...  | ६    |
| आत्मज्ञाने वर्तमानस्य लोकसंप्रहाय कर्म<br>कुर्वतोऽपि तत्फललेपत्वोपाद-<br>नम् ...                         | ७    |
| योगिनस्तत्फललेपत्वे हेतुकथनम् ...  | ८-१० |
| फलेह्वया कर्म कुर्वतो योगहीनस्य दुःख-<br>प्राप्तिनिरूपणम् ...  | ११   |

| विषयाः   | श्लोकाङ्काः |
|--|-------------|
| योगिनः सुखेन देहस्थितिकथनम् ...  | १२          |
| आत्मनः प्रभोः कारयितृत्वाद्यभाव-<br>पुरःसरं शक्तेः कारयितृत्वादिप्र-<br>तिपादनम् ...                   | १३-१५       |
| ज्ञानिनां ज्ञानेन ब्रह्मप्राप्तिनिरूपणम् ...   | १६          |
| ज्ञानिनो द्विजादौ समेक्षणत्वकथनम् ...  | १७          |
| ज्ञानस्य दृष्टफलाभिधानम् ...   | १८          |
| ब्रह्मज्ञानां प्रियाप्रियप्राप्तावपि हर्षद्वेषर-<br>हितत्वबोधनम् ...                                   | १९          |
| श्रीगजाननं प्रति वरेण्यस्य ज्ञानयोग-<br>मार्गयोर्मध्ये कस्य सुखसाधनत्वमि-<br>त्येतद्विषयकः प्रश्नः ... | २०          |
| श्रीगजाननस्य वरेण्यकृतप्रश्रस्योत्तरा-<br>रम्भः ...  | २१          |
| विषयोत्थसौख्यस्य दुःखकरत्वाद्याभि-<br>धानम् ...  | २२          |
| कामकोधयोः कारणसद्भावे तौ जेतुं<br>समर्थस्य सुखित्वकथनम् ...  | २३          |
| अन्तःसुखादिविशिष्टस्य ब्रह्मप्राप्तिबोध-<br>नम् ...  | २४-२५       |
| चित्तिनिप्रहासमर्थस्य हठयोगाभिधानम् ...  | २६          |
| प्राणायामलक्षणम् ...   | २७          |
| लघुमध्यमोत्तमप्राणायामानां लक्षणानि ...  | २८-३०       |
| प्राणजये गुणकथनम् ...  | ३१-३२       |
| प्राणायाममभ्यस्यतः फलनिरूपणम् ...  | ३३          |
| प्राणायामस्य वृद्धिक्रमकथनम् ...   | ३४          |
| प्राणायामसाध्यफलनिरूपणम् ...   | ३५-३७       |

### भक्तिमार्गप्रधाना मध्यमा

#### चतुरध्यायी ।

#### पञ्चमोऽध्यायः ।

|   |     |
|---|-----|
| वरेण्यं प्रति श्रीगजाननप्रतिपादितं कर्म-<br>योगिनः श्रेष्ठत्वाभिधानम् ... | १   |
| निष्कामकर्मणोऽवधित्वकथनम् ...   | २   |
| शमदमाद्यभावे दोषनिरूपणम् ...  | ३-४ |
| मनोनाशोपायाभिधानम् ...  | ५-६ |



| विषयाः  | श्लोकाङ्काः |
|---|-------------|
| योगस्य प्रतिकूलावस्थाकारुदेशादीनां<br>निरूपणम् ... .. ७-१८            |             |
| द्विविधयोगस्य मनश्चाश्रयेन सुदुष्कर-<br>त्वप्रतिपादकप्रश्नः ... .. १९ |             |
| विस्तरेण मनसो दौष्ट्यनिरूपणम् ... २०-२३                               |             |
| असिद्धमनोजयस्य योगभ्रष्टस्य को लो-<br>क इति वरेण्यप्रश्नः ... .. २४   |             |
| योगभ्रष्टस्योत्तमगतिप्राप्तिप्रतिपादनम् २५-२७                         |             |

### षष्ठोऽध्यायः ।

|   |  |
|---|--|
| भगवद्‌ध्यानयोगं कुर्वतः समस्तैश्वर्यादि-<br>गुणसंपन्नभगवज्ज्ञानप्राप्तिप्रकारो-<br>पदेशप्रतिज्ञा ... .. १-२                     |  |
| विज्ञानसंपत्तेः प्रकृतिज्ञानस्यापेक्षकत्वक-<br>थनम् ... .. ३  |  |
| जडप्रकृतेरेकादशभास्वेन निरूपणम् ... ४   |  |
| जीवरूपायाः प्रकृतेरभिधानम् ... ५  |  |
| उक्तप्रकृतिद्वयद्वारेणेश्वरस्य जगत्कार-<br>णत्वप्रदर्शनम् ... .. ६  |  |
| ज्ञानदुर्लभत्वप्रकटनम् ... .. ७-८   |  |
| ईश्वराधिगमोपायविभूतीनां संक्षेपेण<br>कथनम् ... .. ९-१०  |  |
| त्रिविकाराया मम प्रकृतेर्जगन्मोहकत्वं<br>त्वबोधनम् ... .. ११  |  |
| मायानिवृत्त्युपायकथनम् ... .. १२  |  |
| अन्यदेवतोपासकानां तत्तद्देवतोपासन-<br>भ्रद्धादाढर्थकरणेन तत्तद्देवतस्व-<br>रूपिणो मत्त एव कामप्राप्तिरिति<br>कथनम् ... .. १३-१४ |  |
| अन्यभावनानुसारेण देहान्तरप्राप्तिक-<br>थनम् ... .. १५-१६  |  |
| सर्वेषामप्यहं गम्य इति निरूपणम् ... १७  |  |
| अन्यदेवताभक्तानां पातकथनपूर्वकं म-<br>द्भक्तानां क्वचिदपि काले पाताभा-<br>वनिरूपणम् ... .. १८                                   |  |
| निष्कामभक्तानां सम्यग्दर्शनां भग-<br>वतो योगक्षेमप्रापकत्वकथनम् ... १९  |  |
| योगिज्ञानहीनयोंर्गतिनिरूपणम् ... २०   |  |

| विषयाः  | श्लोकाङ्काः |
|---|-------------|
| <b>सप्तमोऽध्यायः ।</b>  |             |
| श्रीगजाननं प्रति वरेण्यस्य शुक्लकृष्णग-<br>तिविषयकः प्रश्नः ... .. १  |             |
| देवयानपितृयानमार्गद्वयकथनम् । शुक्ला<br>गतिर्ब्रह्मावाप्तेः कारणं कृष्णा गतिः<br>संमुख्यवाप्तेः कारणमिति निरूपणम् ... २-३ |             |
| शुक्लगतिप्राप्यब्रह्माभिधानम् ... .. ४  |             |
| कृष्णगतिप्राप्यसंमृतिकथनम् ... ५  |             |
| मृत्युतिनिराकरणार्थं भगवतः पूजाप्रका-<br>रकथनम् ... .. ६-८  |             |
| स्थिरचित्तस्य मानसपूजाप्रकारः । त-<br>त्पूजायाश्च श्रेष्ठत्वकथनम् ... ९-१०  |             |
| चतुर्णामाश्रमिणां मध्येऽन्यतमस्य पू-<br>र्वोक्तपूजां प्रकुर्वीतस्य सोपानारो-<br>हक्रमेण सिद्धिफलनिरूपणम् ... ११           |             |
| मदन्यदेवताभक्तस्य मां द्विषतोऽपि<br>माभेव यजत इत्यादिबोधनम् ... १२-१३   |             |
| तान्नित्रिकपूजाकथनपूर्वकं तदकरणे प्र-<br>त्यवायाभिधानम् ... .. १४-१७  |             |
| अन्तरङ्गकर्मावबद्धात्मोपासनकथनपूर्व-<br>कमैकात्म्यज्ञानफलाभासिप्रतिपाद-<br>नम् ... .. १८-२२                               |             |
| मयि सर्वकर्मापि कुर्वतां योषितादी-<br>नामपि मुक्तिरिति कथनम् ... .. २३  |             |
| मद्भक्तस्याविनाश्यत्वेनाभिधानम् ... २४  |             |
| साधारण्येन विभूतितल्लक्षणयोर्निरूप-<br>णम् ... .. २५  |             |

### अष्टमोऽध्यायः ।

|   |  |
|---|--|
| विश्वरूपदिदक्षया वरेण्यकृता गणेश-<br>प्रार्थना ... .. १-२                     |  |
| एकास्मिन्मयि पश्य त्वमित्यादिगजानन-<br>भाषणम् ... .. ३-४                      |  |
| वरेण्यस्य गजाननकृतविश्वरूपदर्शनम् ५-७   |  |
| श्रीगजाननदर्शितविश्वरूपस्य स्वानुभ-<br>वप्रकटीकरणार्थं वरेण्यवाक्यम् ... ८-२२ |  |

| विषयाः   | श्लोकाङ्काः |
|--|-------------|
| घरेण्यं प्रति गजाननकृतं विश्वरूपदर्श-<br>नस्य दुर्लभत्वेन निरूपणम् ...                             | २३-२४       |
| घरेण्यं प्रति भक्तिभावत एवाहं प्राप्य<br>इत्याद्याभिधानपूर्वकं गजाननकृतं<br>सौम्यरूपप्रदर्शनम् ... | २५          |
| मदर्थं कर्मं कुर्वतो मद्भक्तस्य सर्वसङ्ग-<br>हीनादिगुणविशिष्टस्य मत्पदावाप्ति-<br>कथनम् ...        | २६          |

## ज्ञानकाण्डार्थप्रधानाऽन्तिमा

### त्र्यध्यायी ।

#### नवमोऽध्यायः ।

|  |       |
|--|-------|
| व्यक्तोपासकाव्यक्तोपासकयोर्मध्ये क-<br>तरः श्रेयानिति वरेण्यप्रश्नः ...                      | १     |
| अस्य संशयस्य च्छेत्ता स्वदन्यो नास्ती-<br>त्याकारिका वरेण्यकृता श्रीगजानन-<br>स्तुतिः ...    | २     |
| व्यक्ताव्यक्तोपासकयोस्तारतम्यप्रति-<br>पादनम् ...  | ३-६   |
| भक्तियोगे वरेण्यस्य श्रीगजाननकृतं<br>प्रवर्तनम् ...  | ७     |
| भक्तिमाहात्म्यकथनम् ...  | ८-१०  |
| पूर्वोक्तभक्तियोगेऽसमर्थस्याभ्यासयोगा-<br>दिसाधननिरूपणम् ...                                 | ११    |
| अभ्यासादावशक्तस्येश्वरार्पणबुद्ध्या स्व-<br>धर्माचरणमेव श्रेय इत्यभिधानम् ...                | १२    |
| स्वधर्माचरणमप्यनुष्ठातुमसमर्थस्य प्रय-<br>त्नतन्निविष्टकर्मफलरूपरूपोपाया-<br>न्तरकथनम् ...   | १३    |
| अकर्तृत्वाद्यनुसंधानापेक्षयाऽकर्तृत्वाहमि-<br>त्यादिचेतोवृत्तेः प्राशस्त्यादिषो-<br>धनम् ... | १४    |
| निरहंममतेत्यादिकैवल्यसाधनधर्मनिरू-<br>पणम् ...   | १५-१७ |
| छक्तवर्मापिदेशं संशीलयतो जनस्य<br>लोकेषु बन्धत्वेनाऽऽमनः प्रियत्वेन<br>चाभिधानम् ...         | १८-१९ |

| विषयाः   | श्लोकाङ्काः |
|--|-------------|
| श्रीगजाननं प्रति किं क्षेत्रं कथं तद्वेत्तीति<br>वरेण्यप्रश्नः ...                               | २०          |
| क्षेत्रस्वरूपकथनम् ...   | २१-२३       |
| क्षेत्रज्ञस्वरूपाभिधानम् ...   | २३          |
| भोक्तृभोगेश्वरप्रकाशकतुरीयज्ञानाधिग-<br>मसाधनोपायनिरूपणम् ...                                    | २४-२५       |
| क्षेत्रज्ञयाथात्म्यकथनम् ...   | २६-३०       |
| अविद्यामुपजीव्य प्रकृतिः पुरुषं कथं<br>बध्नातीति प्रतिपादनम् ...                                 | ३१          |
| गन्वादिगुणप्रयाणां कार्याभिधानम् ...   | ३२          |
| सत्वादीनां मुख्यकार्यकथनपूर्वकं तरका-<br>र्थविभागस्य फलनिरूपणम् ...                              | ३३-३४       |
| सत्त्वविवृद्धयर्थं भक्तियोगे वरेण्यस्य प्रव-<br>र्तनम् ...                                       | ३५          |
| भक्तेः प्रकारान्तरनिरूपणम् ...   | ३६-३८       |
| विष्ण्वादिदेवताभिः सह स्वामिनोऽ-<br>भेदबोधनम् ...  | ३९          |
| यदेव रूपं येन भक्त्योपास्यते तेन स्वरू-<br>पेण तस्मै स्वमात्मानं दर्शयामी-<br>त्यादिनिरूपणम् ... | ४०-४१       |

#### दशमोऽध्यायः ।

|   |       |
|---|-------|
| देवसंपद आसुरराक्षससंपदोश्च संक्षेपतः<br>फलकथनम् ...                                     | १-२   |
| विस्तेरेणाऽऽसुरराक्षससंपदोर्लक्षणाभि-<br>धानपूर्वकं तयोस्त्याज्यत्वेन निरू-<br>पणम् ... | ३-१७  |
| निश्चयेः प्राप्तये दैवी संपदमवलम्ब्य हठ-<br>चेतसा मद्भक्तिं कुर्विति कथनम् ...          | १८    |
| भक्तेर्लैविध्यकथनपूर्वकं तल्लक्षणनिरू-<br>पणम् ...                                      | १९-२१ |
| कामलोभादीनां निरयप्रदत्वमतस्तेषां<br>त्याज्यत्वेनाभिधानम् ...                           | २२    |

#### एकादशोऽध्यायः ।

|  |     |
|--|-----|
| कायिकादिप्रभेदेन तपत्रैविध्यनिरूपणम् ... | १-४ |
| सात्विकौदितपसां लक्षणम् ...              | ५-६ |

| विषयाः                                      | श्लोकाङ्काः | विषयाः                                    | श्लोकाङ्काः |
|---|-------------|---|-------------|
| गुणभेदेन दानत्रैविध्यकथनम् ...              | ७-९         | एतद्योगगोपनस्य फलनिरूपणम् ...             | ३६          |
| सात्त्विकादिभेदेन ज्ञानकर्मकर्तृणां त्रैवि- |             | श्रीगणेशेन यथोदितं तत्सर्वं वरेष्यश्चका-  |             |
| ध्यप्रतिपादनम् ... ..                       | १०-२०       | रेतिव्यासवचनम् ... ..                     | ३७          |
| सात्त्विकादिमुखदुःखानां विभागाभि-           |             | वरेष्यस्य मुक्तिसंप्राप्तिनिरूपणम् ...    | ३८          |
| धानम् ... ..                                | २१-२६       | एतच्छास्त्रश्रवणफलकथनम् ... ..            | ३९          |
| सत्त्वादिगुणैः स्वस्य मुक्तौ स्वधर्मा-      |             | एतद्वन्धस्य श्रावयितुं व्याख्यातुं च फल-  |             |
| चरणनिबन्धकोपासनाप्रकारनिरूप-                |             | निरूपणम् ... ..                           | ४०          |
| णम् ... ..                                  | २७          | गीतापाठफलनिरूपणम् ... ..                  | ४१-४६       |
| ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रकर्मणां प्रविभाग- |             | चतुर्थ्यां गीतापाठे मोक्षाभिधानम् ...     | ४७          |
| कथनम् ... ..                                | २८-३३       | सकृद्गीतापाठे ब्रह्मावाप्तिप्रतिपादनम्... | ४८          |
| चातुर्वर्ण्यकर्मविभागफलनिरूपणम् ...         | ३४          | भाद्रशक्लचतुर्थ्यां मृन्मयमूर्तिगणेशपूजन- |             |
| उपपादितशास्त्रस्योपसंहारवचनम् ...           | ३५          | पूर्वकं सप्तकृत्वो गीतापाठे पुत्राद्य-    |             |
|   |             | वाप्तिबोधनम् ... ..                       | ४९-५३       |

इति गणेशगीताश्लोकान्तर्गतविषयाणामध्या-  
पक्रमेणानुक्रमः ।







ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

# श्रीमद्गणेशगीता ।

नीलकण्ठविरचितटीकासमेता ।

( तत्र प्रथमोऽध्यायः । )

गणेशोऽयं लोकः स नमति गणेशं मतिकृते  
गणेशेनोदीर्णः स्पृहयतु गणेशाय सततम् ॥  
गणेशादुद्भूतः स किमिह गणेशस्य विकृति-  
गणेशे चाध्यस्तः प्रकटय गणेशात्र यद्वतम् ॥ १ ॥  
गणाधीशं नमस्कृत्य गणाधीशाननोद्गताम् ॥  
गणेशप्रीतये गीतां व्याकरोमि यथामति ॥ २ ॥  
कर्मोपास्तिज्ञानकाण्डा वेदेष्विव मतां इह ।  
सूत्रं वृत्तिवार्तिकं च वेदान्तेष्विव गम्यते ॥ ३ ॥  
तत्राँऽऽद्या चतुरध्यायी कर्मकाण्डप्रशंसनम् ।  
ततश्चतुर्भिर्विज्ञेयो भक्तिमार्गस्य विस्तरः ॥ ४ ॥  
नवमादित्रयेणेह ज्ञानकाण्डार्थ ईरितः ।  
एवमेकादशाध्यायीमाहुः काण्डत्रयात्मिकाम् ॥ ५ ॥  
सूत्रमष्टादश श्लोकाः प्रथमेऽध्याय आदितः ।  
यावदध्यायसंपूर्तिस्तस्य वृत्तिरुदीरिता ॥ ६ ॥  
ततो दशभिरध्यायैर्वृत्तेर्वार्तिकमीरितम् ।  
सूत्रेऽप्याद्ये श्लोकयुग्मे विषयः सप्रयोजनः ॥ ७ ॥  
उक्तस्तत्त्रिभिः श्लोकैः संगतिः समुदीरिता ।  
ततः षड्भिस्तु वैराग्यं चतुर्भिस्तत्त्वमुत्तमम् ॥ ८ ॥  
जीवन्मुक्तिस्त्रिभिः श्लोकैरेवं सूत्रेऽर्थसंग्रहः ।  
एतत्सर्वं यथास्थानं व्याख्यायां दर्शयिष्यते ॥ ९ ॥  
गीतास्वन्यासु यन्नोक्तं तदितस्तत्र नीयताम् ।  
यदत्रातीव संक्षिप्तं तद्व्याख्याऽन्यासु दृश्यताम् ॥ १० ॥

क्व गणनाथवचोमृतसागरो जडतरा मम बुद्धिरियं क्व वा ।  
तदपि तं गुरुलक्षणपादुकातरणिसंश्रयणेन तितीर्षति ॥ ११ ॥  
स्मयिनः प्रभवः समत्सराः श्रुतवन्तो वितथोदया जडाः ।  
गणनाथ भवद्वचोनुगां मतिमानन्दतनोऽधितिष्ठ मे ॥ १२ ॥

इह खलु भगवान्पाराशर्यः सर्वान्मन्दमध्यममतीननुग्रहीतुं सर्ववेदा-  
र्थसंग्रहार्थं सेतिहासानि पुराणानि प्रणिनिनाय । तेषु च धर्मार्थ-  
काममोक्षार्थान्सम्यक्प्रतिपादितवान् । तत्रापि महाभारते भगवद्गीताभि-  
रप्युपनिषद्भिः प्रतिबोधितोऽप्यर्जुनस्तत्सर्वं विसस्मार । स पुनर्भगवन्त-  
मुपसन्न आश्वमेधिके पुनरुत्तरगीतायां भगवता प्रतिबोधितस्तस्माद्बहु-  
विघ्नेयमात्मविद्या विघ्नराजमुखादधिगता सती निर्विघ्नं कैवल्यसिद्ध्यर्थं  
भविष्यतीत्यभिसंधाय श्रीगजाननप्रवक्तृकां वरेण्यप्रतिपत्तृकां गीतां गणे-  
शपुराणमध्य उपनिबद्धवान् । तत्राप्यादौ प्रेशावत्प्रवृत्त्यर्थं सूतप्रश्नमु-  
खेन विषयप्रयोजने दर्शयति सूत उवाच—अष्टादशपुराणोक्तमित्यादिना  
श्लोकद्वयेन ।

\* सूत उवाच—

अष्टादशपुराणोक्तममृतं प्राशितं त्वया ।

ततोऽतिरसवत्पातुमिच्छाम्यमृतमुत्तमम् ॥ १ ॥

अत्र सुखप्रतिपत्त्यर्थमेकः पृच्छतीवेतरो वदतीवेत्याख्यायिकामुखेन  
जनकयाज्ञवलक्यसंवादप्रकाशकवृहदारण्यकाद्युपनिषत्स्विव प्रत्यगात्मतत्त्वं  
प्रतिपाद्यते । तत्प्रतिपत्तिश्च कैवल्यप्राप्तिका मोहनिवृत्तिमुखेन भवतीति  
सर्वेषु वेदान्तेषु घण्टाघोषः । तत्रायमाद्यश्लोकार्थोऽष्टादशसु पुराणे-  
षूक्तम् । तानि च—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।

आलिंपाग्निपुराणानि कूस्कं गारुडमेव च ॥

इति संगृहीतानि । मद्वयं मार्कण्डेयपुराणम् ॥१॥ मत्स्यपुराणम् ॥२॥  
भद्वयं भविष्यपुराणम् ॥ ३ ॥ श्रीमद्भागवतं च ॥ ४ ॥ ब्रत्रयं ब्रह्माण्डपु-

\* एतच्छ्लोकात्प्रागयं श्लोकः क. ख. ग. पुस्तकेषु कउवाच-एवमेव पुरा पृष्ठः शौनकेन  
महात्मना । स सूतः कथयामास गीतां व्यासमुवाचक्षुताम् ॥ इति ।

१ क. ख. 'ष्ठते । इ' । २ क. ख. प्रबो' । ३ घ. 'विघ्नकै' । ४ क. ख. 'रेण्यं प्रति गी' ।  
५ घ. 'तिवृच्छकां । ६ ग. त तु सू' ।

राणम् ॥ ५ ॥ ब्रह्मपुराणम् ॥ ६ ॥ ब्रह्मवैवर्तम् ॥ ७ ॥ वचतुष्टयं विष्णु-  
पुराणम् ॥ ८ ॥ वायुपुराणम् ॥ ९ ॥ वराहपुराणम् ॥ १० ॥ वामनपुराणम्  
॥ ११ ॥ आदित्यपुराणम् ॥ १२ ॥ लिङ्गपुराणम् ॥ १३ ॥ पद्मपुराणम्  
॥ १४ ॥ अग्निपुराणम् ॥ १५ ॥ कूर्मपुराणम् ॥ १६ ॥ स्कन्दपुराणम् ॥ १७ ॥  
गरुडपुराणं च ॥ १८ ॥ एतेषूक्तममृतम् । अमृतवत्पीतिकरं पुरुषार्थचतु-  
ष्टयम् । प्राशितम् । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयं प्राश्नातिस्तुतिकरत्वसामा-  
न्याच्छ्रवणे वर्तते । त्वया श्रावितं मया च श्रुतमित्यर्थः । त्वयेति शुष्मदर्थः  
संबोध्यः । हे गुरो, इत्याक्षिप्यते । यद्यप्येवं तथाऽपि तेषां श्रवणेनाकू-  
तार्थोऽहम् । ततोऽपि तेभ्योऽपि पुराणेभ्यः, अति अत्यन्तं रसवत् । रसो  
वै स इति श्रुतेः । रसो ब्रह्मानन्दः । स एव प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वेन  
यत्र वर्तते तच्छास्त्रमतिरसवत् । पातुं सादरं श्रोतुमिच्छामि प्रार्थये  
त्वामित्यर्थः । यद्वा ततस्तेभ्यः पुराणेभ्यो यत्पीतमतिरसवत्तदस-  
कृच्छ्रुतमपि । आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां विघ्नानां बाहुल्या-  
द्विप्लवते । तत्राऽऽधिव्याधिजो विघ्न आद्यः द्वितीयः । शीतोष्णादिजः ।  
अन्त्यस्तु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः (बृ० १।४।१०) इति  
देवानां ब्रह्मविद्यायां विघ्नकर्तृत्वं प्रतिपादयन्त्या श्रुत्यैव दर्शितः । अतस्तद-  
मृतं पातुं विघ्नेभ्यस्त्रिविधेभ्यो रक्षितुमिच्छामि । विघ्नेश्वरमुखान्निर्गतं  
विद्यामृतं पाययासि चेत् । तद्विघ्नैर्विप्लावयितुमशक्यमिति लब्धा विद्या  
सुरक्षिता भवतीति भावः । अमृतमुत्तममिति । पामराणां प्रजामनु प्रजा-  
यसे । तदु ते मर्त्यामृतमिति मन्त्रवर्णात्पुत्रादिकमेवामृतं निरूढानाम् ।  
अपाम सोमममृता अभूम (अथर्वाशि० ३) इति श्रुतेर्यज्ञप्राप्यः स्वर्गोऽमृ-  
तमुत्कृष्टानाम् । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीति श्रुतेर्भूधन्यनाड्या क्रमसंक्ति-  
स्थानप्राप्तिरमृतमुत्कृष्टतराणाम् । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते  
(बृ० ४।४) इति श्रुतेरुत्कृष्टतमानाममृतं ब्रह्मभावस्तदत्रोत्तममिति तमप्स-  
त्ययेन प्रोक्तम् । तदनेन जिज्ञास्यो विषयः परं ब्रह्मेति दर्शितम् ॥ १ ॥

विषयमुक्त्वा प्रयोजनमाह—

\* येनामृतेति ।

\* क. ग. घ. पुस्तकेषु योगामृतेति प्रतीकं वर्तते तदनुरोधेन षाठव्यत्यासोऽवगन्तव्यः ।



येनामृतमयो भूत्वाऽऽमुयां ब्रह्मामृतं यतः ।

योगामृतं महाभाग तन्मे करुणया वद ॥ २ ॥

योगो ब्रह्मात्मैक्यं तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽमृतसाधनत्वादमृतम् । तत्, योगामृतं तां ब्रह्मोपनिषदं मे मह्यं करुणया वदेति संबन्धः । मृतमचेतनं सकारणं कोशपञ्चकम् । ततोऽन्यदमृतं चिन्मात्रम् । तत्प्रधान ईश्वरोऽमृतमयः । येन त्वयोपदिष्टेन ब्रह्मामृतेनामृतमय ईश्वरो भूत्वा कार्योपाधिप्रहाणेन कारणोपाधितां प्राप्य घटाकाश इव मटाकाशतामनुभूय, अमृतं कारणोपाधेरपि प्रहाणाच्छुद्धं चिन्मात्रं परं ब्रह्म प्राप्नुयां लभेयम् । सर्वत्र वेदान्तेषु सगुणब्रह्मभावप्राप्तिपूर्विकैव निर्गुणब्रह्मभावप्राप्तिः श्रूयते— अस्माच्छरीरादुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति । (छा० ८।१२।३) स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् (ऐ० ४।६) इति च । स्वरूपाभिनिष्पत्तिः स्वर्गलोकप्राप्तिश्च सगुणभावापत्तिः परं ज्योतिरुपसंपत्तिरमृतभावश्च निर्गुणब्रह्मभावापत्तिः प्रयोजनं विद्याया इत्युक्तम् । यतो निगृहीतैकादशेन्द्रियो मुमुक्षुरापाततः प्रतिपन्नवेदार्थो ब्रह्मविद्यायामधिकारी तत इत्यर्थः । महाभागेति गुरोर्विशेषणात्—

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं धर्मश्च मनुजेश्वर ।

आत्मनो ब्रह्मभूतस्य नित्यमेव चतुष्टयम् ॥

इति दक्षस्मृतेर्ब्रह्मविद्याबलेन लब्धनिरङ्कुशज्ञानैश्वर्यादिर्गुरुरनुसर्तव्य इति दर्शितम् । \* भगानामैश्वर्यादीनां समूहो भागं महद्भागं यस्य स महाभागः । तीव्रसेवया वा भूयःसाधनेन वा विद्यान्तरेण वा ब्रह्मविद्याया विनिमयो न संभवतीति सूचनार्थं करुणयेत्युक्तं, तीव्रसंसारदुःखग्रस्ता एतेऽवश्यं संसारान्मोचनीया इति बुद्ध्येत्यर्थः । अत्र ब्रह्मगीतयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबन्धः । तत्कामोऽधिकारी चेत्यनुबन्धचतुष्टयमुक्तं सूतप्रश्नव्याजेन ॥ २ ॥

\* ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव वृष्णां भगमिति स्मृतिः ॥ इति ग. पुस्तकटिप्पण्यम् ।

एवं शास्त्रारम्भाङ्गमनुबन्धचतुष्टयं सूतप्रश्नमुखेन प्रदर्शयन्प्रीगजानन-  
वरेण्यसंवादमुखेन शास्त्रमारभमाणो व्यास उवाच—

अथ गीतां प्रवक्ष्यामि योगमार्गप्रकाशिनीम् ।

नियुक्ता पृच्छते सूत राज्ञे गजमुखेन या ॥ ३ ॥

अत्रातिरसवत्पातु मिच्छामीति वदता सूतेनाल्परसेभ्यो धर्मार्थकाम-  
फलेभ्यस्तुच्छत्वेन निश्चितेभ्य आत्मनो नित्यानित्यविवेकवत्त्वमिहामु-  
त्रार्थफलभोगविरागश्च दर्शितः । यत इति शमादिसंपन्नत्वं ब्रह्मासूत-  
माप्नुयामिति मुमुक्षा च दर्शिता । एतेषामानन्तर्यमथशब्दार्थः । हे सूत,  
एवंविधसाधनचतुष्टयसंपन्नाय तुभ्यं तां गीतां प्रवक्ष्यामीत्यध्यात्हत्य  
योज्यं तां कां या राज्ञे वरेण्याय गजमुखेन देवेन नियुक्ता प्रेरिता । तथा  
चोक्तं श्रीभागवते—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताऽजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।

स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास(स्य)तः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदतु ॥

ततश्च गच्छन्ति प्राप्नुवन्त्येनं प्रलयकाले जायन्ते च यस्मात्सर्वाः  
प्रजा इति कृत्स्नप्रपञ्चयोनिरीश्वरो गजशब्दार्थः । स एव मुखं प्रथमं  
कार्यं यस्य स परमात्मा गजमुखः । तेन स्वसृष्टाय वरेण्याय वरेण्यं  
बोधयितुं गीताख्या सरस्वती नियुक्ता । तेन “ यो ब्रह्माणं विदधाति  
पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै  
शरणमहं प्रपद्ये ” (श्वे० ६।१८) इत्यस्याः श्रुतेरर्थो दर्शितः । पृच्छते प्रश्नं  
कुर्वते जिज्ञासव इत्यर्थः । गीतां विशिनष्टि योगमार्गप्रकाशिनीमिति ।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टेत(ष्टति) तामाहुः परमां गतिम् ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ इति श्रुतौ,

( कठ० ६।१० )

पिण्डीकृत्येन्द्रियग्रामं बुद्ध्वावारोप्य निश्चलम् ।

विषयांस्तस्मृतीस्त्यक्त्वा तिष्ठेच्चिदनुरोधतः ॥

एषोऽभ्युपायः सर्वत्र वेदान्तेषु प्रतिष्ठितः ।

तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानोत्पत्त्यर्थमादरात् ॥

इति वार्तिके च योगस्य प्राधान्यं दृश्यते । ततस्तेन विना जाताऽपि विद्या नश्यति न जायते चेति मत्वा योगमार्गप्रकाशिनीमित्युक्तं न ज्ञानमार्गप्रकाशिनीमिति । अत एव पातञ्जलसूत्रभाष्यकृता भगवता बादरायणेन निर्विकल्पकं समाधिं प्रकृत्योक्तम्—अस्यामवस्थायामीश्वरस्यानीश्वरस्य वा ज्ञानिनो वा सिद्धं कैवल्यमिति ॥ ३ ॥

एवं कृष्णार्जुनयोरिव गणेशवरेण्ययोः शास्त्रतस्तत्त्वे निर्णीतेऽपि लोकद्वष्टिमनुसृत्य तयोः संवादमाह । तत्र जिज्ञासुवरेण्य उवाच—

विघ्नेश्वर महाबाहो सर्वविद्याविशारद ॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ योगं मे वक्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

अत्र व्याधिस्त्यानसंशयादयो दुःखदौर्मनस्यादयश्चाऽऽत्मतो विघ्नाः । यक्षराक्षसम्लेच्छतस्करव्याधादयः परतो विघ्नाः । पाखण्डपथाभिनिवेशादयः शास्त्रतो विघ्नास्तेषां ज्ञानयोगप्रतिपक्षाणां क्रमेण निवारणं प्रार्थयमानः पूर्वार्धेन संबोधयति । तत्तत्पापफलानां विशेषेण घ्नतामाद्यानां नाशो विघ्नेश्वरार्थिनः । मध्यमानां सर्वजनबाह्यादिभिर्बाहुमतो नाशो महाबाह्वर्धिनः । अन्त्यानां सदसन्मार्गाभिज्ञस्य मातापितृशतेभ्य आसतमस्य कृपयैव नाश इति क्रमेण संबोधयितुराशयः । ननु सर्वेषु शास्त्रेषु संयमादिसाध्यो योगस्तत्सिद्धिपूर्विका कैवल्यप्राप्तिश्च समा-नेति कुतः शांक्तादिमार्गान्निवृत्तिः प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञेति । उच्चो नीचो वा यः परमार्गं श्रयते स प्रत्यवायदग्धो न कुतश्चिदपि सिद्धिं प्राप्नोतीति तत्तच्छास्त्रहृदयम् । यथोक्तं भगवद्गीतासु—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ इति ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ इति च ।

कः शास्त्रार्थः कस्यानुकूलः कस्य प्रतिकूल इति तत्त्वं सम्यग्ज्ञानन्य-रमकारुणिको मम यः समुचितो योगस्तमेव मे मह्यं वक्तुं कथयितुमर्हसि समर्थोऽसि ॥ ४ ॥

एवं वरेण्येन राज्ञा प्रार्थितस्तं प्रशंसन्श्रीगजानन उवाच—

१ ख. 'सूत्रे मा' । २ ग. 'ज्ञतत्त्वे' । ३ ग. 'ह । अ' । ४ क. ख. शो माहवा । ५ क. घ. शाक्यादि । गं. शास्त्रतया मा ।

सम्यग्व्यवसिता राजन्मतिस्तेऽनुग्रहान्मम ॥

शृणु गीतां प्रवक्ष्यामि योगामृतमयीं नृप ॥ ५ ॥

हे राजन् हे वरेण्य ते तव मतिर्योगश्रवणार्थिनी सम्यग्व्यवसिता शोभननिश्चया जाता । तत्र हेतुमाह ममानुग्रहादिति । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना ।

महाभयकृतत्राणाद्वित्राणामेव जायते ॥

इति श्रुतिस्मृतिवादा योगनिष्ठताया ईश्वरानुग्रहफलतां दर्शयन्ति । ईश्वरानुग्रहोऽपि कुत इत्याशङ्क्य संबोधयति नृपेति । विश्वपालके त्वयि विश्वरूपस्य मेऽनुग्रहो युक्त एवेति भावः । यस्मादेवं तस्मात्ते तुभ्यं गीतां प्रवक्ष्यामि त्वं च तां शृणु । कीदृशीं योगामृतमयीम् । ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादकं शास्त्रं तत्प्रधानाम् । सृष्ट्यादिकं तु तत्प्रतिपत्त्युपायतयाऽत्रकथ्यते न तात्पर्येणेति भावः ॥ ५ ॥

अथ वैराग्यं प्रथमं साधनं तदुत्पादनार्थं पराभिमतान्योगान्निषेधति—

न योगं योगमित्याहुर्योगो योगो न च श्रियः ।

न योगो विषयैर्योगो न च मात्रादिभिस्तथा ॥ ६ ॥

योगम्, अलब्धलाभं ब्रह्मविदो योगं स्वशास्त्रे योगशब्दार्थं नाऽऽहुः किंतु नित्यप्राप्तमेवाऽऽत्मानं कण्ठगतविस्मृतचामीकरवदज्ञानापगममात्र-लभ्यमाहुरतो लोकसिद्धयोगपदार्थं ते नाऽऽद्रियन्त इत्यर्थः । तत्र देहात्मवादिनश्चार्वाकाः स्वातन्त्र्यं मुक्तिः पारतन्त्रं ( न्त्र्यं ) बन्धः । तौ च धनसदसद्भावायत्ताविति धनयोग एवं योग इत्याहुः । तन्निषेधति योगो योगो न च श्रिय इति भोगायानुपयुक्तं धनं न पुरुषार्थः । अतो धनसाध्यो विषयैः स्रक्चन्दनवनितादिभिर्योगः सुखहेतुः स एव पुरुषार्थ इत्यपरश्चार्वाक इन्द्रियात्मवादी तन्मतं निषेधति न योगो विषयैर्योग इति । सुषुप्तौ देहस्येन्द्रियाणां चाभोक्तृत्वं स्पष्टं भोगश्च प्रमातृप्रमाणप्रमेयानां योगं विना न संभवतीति मनआत्मवादी, अपरश्चार्वाकः प्रमातुः श्रियो योगं योगपदार्थं मन्यते तन्मतं निषेधति । न च मात्रादिभिस्तथेति । प्रमात्रादिभिर्योगः सोऽपि योगो न भवतीत्यर्थः । अत एवैते प्राहुः—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद्वृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ इति ॥ ६ ॥

आर्हतास्तु सर्वज्ञकुले जन्मैव सततोर्ध्वगतिरूपस्य कैवल्यस्य साधकं पक्षिजन्मेव खेचरत्वस्येत्याहुस्तन्निषेधति—

योगो यः पितृमात्रादेर्न स योगो नराधिप ॥

तद्यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात् (बृ०४।१।२) इति श्रुतेर्विशिष्टमात्रादियोगो विशिष्टनराधिपयोगवदेतमुत्पत्त्याद्यावर्तयतु सत्पथालम्बनं तु सदृष्टसामग्रीफलम् । अतस्तां विना तैर्योगो निष्फल इत्यर्थः । आदिपदार्थ आचार्यः । तेषामपि निर्जराख्ययोगाभ्यासेनैवेष्टसिद्धिर्भवति न कुले जन्ममात्रेणेत्यर्थः । अभ्यस्तयोगोऽप्यन्तर्हृदयेऽतीतान्बन्धूनागतांश्च पुत्रपौत्रादीनलौकिकेन प्रत्यक्षेण पश्यति । यच्च(श्च)—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।

प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ॥

इति प्रसिद्धाभिः संयोगं(गो) लभ(भ्य)ते सोऽपि योगो न भवतीत्याह—

योगो यो बन्धुपुत्रादेर्यश्चाष्टाभूतिभिः सह ॥ ७ ॥

अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य अष्टन आत्मम्, अष्टाशफाश्च य इहाग्ने, इत्यादिवत् । अणिमा भवत्यणुः पांसोरपि, महिमा भवति महान्मेर्वादे-  
रपि, लघिमा भवति लघुस्तूलादपि । गरिमा भवति गुरुः पर्वतादपि, प्राप्तिः स्पृशत्यङ्गुल्या चन्द्रमण्डलमपि । प्राकाम्यं प्रसृतिमात्रस्याप्यन्नादेः शतसहस्रभोजनपर्याप्ततां करोति । ईशित्वं चन्द्रसूर्यादीनपि स्ववंशे करोति । वशित्वं दिव्यानपि रूपादीन्प्राप्य मनसा न विक्रियते । अती-  
तादिदर्शनं विभूत्यष्टकं चेत्यनेन योगोऽपि न योगो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

आर्हताद्यभिमतान्योगान्निरस्य सिद्धाभिमतं योगं निरस्यति—

न स योगः स्त्रिया योगो जगदद्भुतरूपया ।

राज्ययोगश्च नो योगो न योगो गजवाजिभिः ॥ ८ ॥

सिद्धा—हि पृथिव्यप्तेजोनिलरवे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् (श्वे०२।१२) इतिश्रुतेः पञ्चभूतजयिनो योगिनः पाञ्चभौतिकं शरीरमजरममरं च

भवति । स च तेनैव शरीरेण सर्वेषु देवलोकेषु संचरन्नम्भातिलोत्तमोर्वश्या-  
दिभिरद्भुताभिः स्त्रीभिरित्थं यो योगं लभते यथा जीवतो जनकराजस्य  
देहं सुलभा नाम योगिनी प्रविवेश यथा वा मृतस्य नन्दस्य राज्ञः शरीरं  
कश्चिद्योगी प्रविश्य योगनन्दो नाम राजा बभूव यथा वा वसिष्ठधेनुर्वि-  
श्वामित्रस्य राज्ञोऽभिभवार्थमनेकां गजवाजिमतीं सेनामसृजद्योगबलेन  
तादृशोऽपि योगोऽस्मिन्मोक्षशास्त्रे योगपदार्थो न भवतीत्यर्थः । जगत्सु  
त्रिष्वद्भुतरूपया स्त्रियाऽपि यो योगः स योगो नेति यच्छब्दाध्या-  
हारेण योज्यम् । एवं गजवाजिभिर्यो योगः सोऽपि योगो न भवतीति  
शेषं स्पष्टम् ॥ ८ ॥

योगो नेन्द्रपदस्यापि योगो योगार्थिनः प्रियः ।

योगो यः सत्यलोकस्य न स योगो मतो मम ॥ ९ ॥

ननु चार्वाकमते मरणमेव मोक्ष इति तत्सर्वशास्त्रविरोधान्द्वेयमेव ।  
इतरदपि मतद्वयं ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्ध्यति इति पारमर्षाद्वचना-  
त्सिद्धिभाजां योगिनां सिद्धीनां समाध्युपसर्गत्वेन कैवल्यप्रतिबन्धक-  
त्वाद्द्वेयमेवावैदिकत्वान्तस्य मतद्वयस्य, वेदोपदिष्टस्य तु योगस्याहेयत्वम-  
स्त्वित्याशङ्क्याऽऽह—योगार्थिनः । जीवब्रह्मैक्यार्थिनो मुमुक्षोरिन्द्रपद-  
स्याश्वमेधशतप्राप्यस्याऽऽधिपत्यप्राप्तिलक्षणो यो योगः सोऽपि न प्रियः,  
नेष्टः । तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः  
क्षीयते (छा० ८।१।६) इति श्रुत्या तस्यानित्यत्वप्रतिपादनात् । अस्तु तर्हि  
सोपासनेन कर्मणा प्राप्यस्य सत्यलोकस्य यो योगः स एव मुख्यो योग  
इत्याशङ्क्याऽऽह—योगो य इति । सत्यलोको ब्रह्मलोकः । यद्यपि “ते  
ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे” (तै० आ० १०।१०)

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

इति श्रुतिस्मृतिभ्यां सत्यलोकस्य योगः क्रममुक्तिफलः, अन्ते कृता-  
त्मनाऽवगम्यते तथाऽपि तत्र भावनातारतम्यकृतस्य नीचोच्चभावस्य हर्षा-  
मर्षहेतोः सत्त्वाद्यावद्ब्रह्मावस्थितिस्तदनु भवोऽपरिहार्योऽस्ति । अतो मम

सद्यःकैवल्यप्रापकज्ञानप्रदस्य सत्यलोकयोगोऽपि न मुख्ययोगत्वेन मत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

मा भूत्केवलेन कर्मणा सोप्ससनेन वा कर्मणा प्राप्यस्य लोकस्य योगो मुख्यो योगः, अनित्यफलत्वात्सातिशयसुखास्पदत्वाच्च, यत्र त्वहमेव सर्वेश्वरो ममैवैते नन्दिकेश्वरादयो जयविजयादयश्च भृत्याः सनकादयश्च मामेव स्तुवन्ति ममैव पुत्रा हिरण्यगर्भादयो ममाऽऽज्ञया सृष्टिं कुर्वन्तीत्यभिमानो गवादिषु, गोत्वादिवत्पत्युपासकं परिसमाप्तो दृश्यते त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः सर्वे चतुर्भुजास्तत्रेतिश्रुतिपुराणादिप्रामाण्यात्तस्य शैवस्य वैष्णवस्य वा लोकस्य योगोऽस्तु मुख्यो योग इत्याशङ्क्याऽऽह—  
शैवस्य योगो नो योगो वैष्णवस्य पदस्य यः ।

न योगो भूप सूर्यत्वं चन्द्रत्वं न कुबेरता ॥ १० ॥

शैवस्य पदस्य यो योगः स नो योगः । एवं वैष्णवस्य पदस्य यो योगः स नो योग इत्यावृत्त्या योज्यं, नो इति न उ इतिनिपातद्वयसमासो नैवैत्यर्थः । अस्य पक्षद्वयस्यावैदिकत्वसूचनार्थं उ इति एवकारार्थो निपातः । वैदिकमते हि सत्यलोकात्परं न ज्ञानकर्मफलमस्तीति निश्चयः । यथा रज्जुसर्पः प्रतिपुरुषं परिसमाप्त एवमीश्वरत्वाभिमानोऽपि तादृश आविद्यकत्वान्नातिरेच्यत इति भावः । यथोक्तं वार्तिके विराड्भावनां प्रकृत्य—न रज्जुसर्पो द्विगुणो भवेद्द्वाभ्यां प्रकाशत इति । मा भूत्तत्तद्देवतापदप्राप्तिर्योगः । तत्तद्देवताभावप्राप्तिस्तु योगो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न योगो भूप सूर्यत्वं चन्द्रत्वं न कुबेरतेति । चन्द्रत्वं नेति नकारः कुबेरता नेति पुनरावर्तनीयः । यथा तव भूपत्वं क्रियाफलम् । एवं सूर्यत्वादिकमपि क्रियाफलमेव कार्यत्वात् । एवं शैववैष्णवभावोऽपि भावनाकार्यत्वान्मानसक्रियाफलं तदुभयमनित्यमित्याहुर्वार्तिकार्थ्याः—

भावनार्जं फलं यच्च यच्च स्यात्कर्मणः फलम् ।

न तत्स्थास्त्विति मन्तव्यं द्रविडेष्विव सौहृदम् ॥ इति ।

शैववैष्णवाभासानां स्वस्वपक्षोत्कर्षवादिनां निरासार्थमुभयग्रहणम् ॥ १० ॥

१ ग. 'दयो गाभिलाषुकस्य । २ क. ख. ग. यत्र । ३ घ. पुत्राः स्कन्दहि° । ४ क. ख. घ. 'नो गो' । ५ ग. घ. च । ६ घ. 'र्थम् । ७ ग. 'ता प्रा° । ८ ग. 'स्थापीति ।

पञ्चसु महाभूतेष्वेकैकविषयधारणया तत्तद्भूतभावापत्तिर्भवतीति  
भौतिका मन्यन्ते तान्निरस्यति—

नानिलत्वं नानलत्वं नामरत्वं न कालता ।

न वारुण्यं न नैर्ऋत्यं योगो न सार्वभौमता ॥ ११ ॥

अनिलत्वमनिलभावापत्तिर्न योगः । एवमनलभावापत्तिर्न योगः ।  
अत्रानिलानलशब्दाभ्यां तदभिमानिन्यौ देवते गृह्येते ते च प्रलयकाले  
स्वोपाधिनाशान्नश्यतः । आकाशस्तु निरवयवो नाशकरणस्याव-  
यवविभागस्यासंभवादमरः । तद्भावापत्तिरमरत्वं तदपि योगो नेत्यर्थः ।  
जन्ममात्रं कालोपाधिरित्याकाशान्तानामुपाधीनां नांशे कालोऽपि  
नश्यति । अतः कालाभिमानिदेवताभावापत्तिरपि न योग इत्याह—  
न कालतेति । वरुणो जलाभिमानिनी देवता तद्भावापत्तिर्वारुण्यं  
तदपि न योगः । निर्ऋतिः पृथिवी । अदितिः, इला, निर्ऋतिरिति वे-  
दाङ्गनिघण्टौ पृथिवीनामसु निर्ऋतिपदस्य पाठात् । तदभिमानिदेवता-  
भावापत्तिर्नैर्ऋत्यं तदपि योगो न भवतीत्यर्थः । यस्तु सर्वासु चित्ता-  
लम्बनभूमिषु प्रकृतिमहदहङ्कारेन्द्रियभूतभौतिकाख्यासु संचरति तत्त-  
द्भूम्युत्कर्षकाले तत्तद्भूतितादात्म्यं प्राप्य न नश्यति यथोक्तं योगवा-  
सिष्ठे दृष्टो भुशुण्डनामा वायसः स चानन्तेषु भूतभौतिकप्रलयेषु जाते-  
ष्वप्यद्यापि जीवतीत्युपाख्यायते सोऽपि सगुणविद्याफलेन बद्धोऽद्यापि  
विदेहकैवल्यं न विन्दति । अतस्तादृशो यः स सार्वभौमः, तद्भावा-  
पत्तिः सार्वभौमता साऽपि योगो न भवति । योगो न सार्वभौमतेत्यत्र  
तृतीयस्याक्षरस्य ह्रस्वत्वाद्धन्धश्लथत्वदोष आर्षत्वादुपेक्ष्यः । एतेषां  
सर्वेषां योगानां योगफलस्य परिमितत्वं स्मर्यते वायुप्रोक्तपुराणे—

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।

भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥

बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।

पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥

पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ॥ इति ।



निर्गुणं पुरुषं शुद्धं त्वंपदार्थं प्राप्य कालसंख्या न विद्यत इत्यनेन प्रकृतौ लीयत इत्युक्तं स च कल्पान्तरे पुनराविर्भवति तथा च पारमर्ष सूत्रं 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' इति । भवो जन्म प्रत्ययः कारणं जन्मैव तेषां समाधिलाभे कारणं तेषां समाधिर्जन्मकारणं न कैवल्य-कारणमिति वा सूत्रपदस्यार्थः । एतेभ्यो योगफलेभ्यो यो विरक्तः स मदभिप्रेते योगे जीवब्रह्मात्यैक्यसाक्षात्कारेऽधिकारी षड्भूमिः श्लोकै-  
निरूपितः ॥ ११ ॥

उक्तविधानां सर्वेषां योगानां फलानि नदीसमुद्रन्यायेन यत्रान्त-  
र्भवन्ति तत्स्वाभिमतं ज्ञानयोगमाह—

योगं नानाविधं भूप युञ्जन्ति ज्ञानिनस्ततम् ॥

भवन्ति वितृषा लोके जिताहारा विरेतसः ॥ १२ ॥

अस्यार्थः । अत्र ज्ञानिनस्त्वकामा अधिकारिणो भाविनीं वृत्ति-  
माश्रित्य ज्ञानिन इत्युच्यन्ते । अग्निर्वा अकामयत, अन्नादो देवानां स्या-  
मित्यत्राग्नित्वकामो यजमानो यथाऽग्निरित्युच्यते, तद्वज्ज्ञानार्थिनो  
योगं ज्ञानोपायं युञ्जन्ति अनुतिष्ठन्ति पञ्चमलकारकल्पनयाऽनुतिष्ठेयु-  
रित्यर्थः । योगस्य ज्ञानोपायत्वं सूत्रितं भगवता हिरण्यगर्भेण—अथ  
तद्दर्शनाभ्युपायो योग इति ।

दृक्षेर्ण व्यतिरेकमुखेण दर्शितम्—

स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।

अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथा घटम् ॥ इति ।

योग्येव जानातीति तृतीयपादार्थः । भूपेति संबोधयन्त्यथा भूमिं  
सावधानः पालयसि । एवं योगभूमिमपि सोपानारोहणक्रमेण तां तां  
जितां पालयितुं समर्थोऽसीति राजानं प्रोत्साहयति । कीदृशं योगं  
नानाविधं बहुप्रकारं, तथा हि संप्रज्ञातासंप्रज्ञातभेदेन द्विविधो योगः  
संप्रज्ञातोऽपि वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत  
इति चतुर्विधः । तत्रापि वितर्कः सवितर्कनिर्वितर्कभेदेन द्विविधः ।  
एवं विचारोऽपि सविचारनिर्विचारभेदेन, असंप्रज्ञातोऽपि द्विविधः—

१ घ. 'निततं स्वाभि' । २ क. ख. 'ल्पनाया' । ३ ग. सूचितं । ४ घ. 'ण तु व्य' । ५ ग. 'हभूमिक' । ६ क. ख. 'ज्ञानासंप्रज्ञानभे' । ७ ग. घ. 'न । एवमष्टौ भेदाः संप्रज्ञातस्य । अ' ।  
८ क. ख. 'ज्ञानोऽपि ।

भवप्रत्यय उपायप्रत्ययश्चेति । भवप्रत्ययो द्विविधः—विदेहानामन्यः प्रकृतिलयानामन्यः । उपायप्रत्ययोऽपि त्रिविधः—स्वतोव्युत्थानः परतोव्युत्थानं उभयतोऽप्यव्युत्थान इति । पञ्च भेदा असंप्रज्ञातस्य । एतेषां लक्षणान्युपरिष्ठाद्यक्ती करिष्यामः । तत् विस्तृतम् । प्रमाणस्वरूपसाधनफलैः सम्यग्व्याख्यातम्, यद्वा योगान्तरफलान्यैश्वर्यादीनि यस्यैकदेशे लीयन्तेऽतोऽयं विस्तृतः । एवं योगं युञ्जतां फलमाह—भवन्ति वितृषा लोक इति । लोक्यत इति लोको विषयः स्वर्गलोकः । मनसा संविभातीति दर्शनात् । भोगभूमिश्च लोकः । उभयविधेऽपि लोके विषये वितृषाः, तृषा पिपासा लिप्सा तद्रहिताः । स सर्वाश्च लोकान्प्राप्नोति सर्वाश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ज्ञानफले सर्वफलान्तर्भावदर्शनात् । एतच्च वैतृष्ण्यं सिद्धस्य स्वतःसिद्धं साधकस्य तु यत्नसाध्यम् । यथोक्तम्—

उत्पन्नात्मप्रबोधस्य ह्यद्वेष्टत्वादयो गुणाः ।

भवन्त्ययत्नतो ह्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥ इति ।

यान्येव सिद्धलक्षणानि तान्येव साधकस्य साधनानीत्युक्तेः । उत्तरत्राप्येवं विधानं द्रष्टव्यम् । कुतो वितृष्णा यतो जिताहाराः । भोगेच्छारहिताः । नानुपहत्य भूतानि भोगः संभवतीतिन्यायादत्यन्तमहिंसापरा इत्यर्थः । विरेतसः, विपरीतरेतस उर्ध्वरेतसो ब्रह्मचारिव्रते स्थिता इति यावत् । एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतीति ब्रह्मचर्यस्याविनाश्यात्मज्ञानहेतुत्वं दृश्यते । एतच्च यमानां नियमानांचोपलक्षणम् । ते च—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा इति सूत्राभ्यां योगशास्त्रे दर्शिताः ॥ १२ ॥

वैतृष्ण्यादित्रयममानित्वादिसर्वसाधनोपलक्षणार्थमुक्तं तस्यावान्तरफलमाह—

पावयन्त्यखिलाँल्लोकान्वशीकृतजगत्रयाः ।

करुणापूर्णहृदया बोधयन्ति च कांश्चन ॥ १३ ॥

ते च वैतृष्ण्याद्युपलक्षितैर्यमनियमादिभिः स्वयं रागद्वेषादिराहित्यात्पूताः सन्तोऽखिलाँल्लोकानपि पावयन्ति, पवित्रान्वैतृष्ण्यादियुक्तान्कु-

र्वन्ति । अतः सर्वोपकारकत्वादेव वशीकृतजगत्त्रयाः, वशीकृतं जगतामुत्तममध्यमाधमानां प्राणिनां त्रयं यैस्ते तथाभूताः । तथा च सूत्रम्—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्याग इति । साधकस्य सार्वभौमैराहिंसादिभिरधमा जातिवैरा मार्जारमूषकादयोऽपि तत्संनिधा राहिंसादिपरा भवन्तीति सूत्रार्थः । करुणा दीनेष्वनुग्रहबुद्धिस्तया पूर्णं हृदयं येषां ते तथा । एतच्च मैत्र्यादीनामप्युलक्षणम् । अत एव सर्वसुहृदस्ते कांश्चिदधिकारिणः प्राप्य तेषां हितं बोधयन्ति, अपिशब्दादनधिकारिण उपेक्षन्ते च ॥ १३ ॥

एवं साधनानि तत्फलानि चोक्त्वा योगस्योक्तं नानाविधत्वं विवृणोति—

जीवन्मुक्ता हृदे मग्नाः परमानन्दरूपिणि ।

निमील्याक्षीणि पश्यन्तः परं ब्रह्म हृदि स्थितम् ॥ १४ ॥

अत्रेवं योगसूत्रं—विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणीति । तत्र विशेषाः स्थूलभूतानि । अविशेषाः पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि च, लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम् । अलिङ्गं प्रधानं तत्र यमनियमवतो योगिनो जितश्वसनस्य जितप्राणस्य मनः प्राणिधित्सतो विशेषादविशेषं प्रपित्सोश्च प्रागुक्तयुक्त्या चित्तमेकाग्री कुर्वतो दैनंदिनलयाभ्यासादविशेषप्राप्तेः प्राग्यश्चित्तलयः स सुषुप्तिरेव । यस्त्वविशेषं प्राप्य ततो लिङ्गमात्रं प्रपित्सोस्तत्प्राप्तेः प्राक्चित्तलयः स विदेहानामसंप्रज्ञातः । एवं ( + लिङ्गमात्रं प्राप्य ततः पुरुषं प्रपित्सोस्तमप्राप्य मध्ये यश्चित्तलयः स प्रकृतिलयानामसंप्रज्ञातः ) तत्राऽऽद्यः स्थूलदेहान्मुक्तत्वाद्विदेहनामा सोऽत्र जीवन्मुक्तपदार्थः । द्वितीयः प्रकृतौ लीनत्वात्प्रकृतिलयनामा सोऽत्र हृदे कारणे मग्न इत्युच्यते, ह्रवं विशिनष्टि परमानन्दरूपिणि । परमस्याऽऽनन्दस्य रूपं द्वैतादर्शनं तद्वति, द्वैतादर्शनं च सुषुप्तावसंप्रज्ञाते च तुल्यवदाम्नायते यद्वैतज्ञ पश्यति

+ धनुश्चिह्नान्तर्गतग्रन्थो न विद्यते क. ख. पुस्तकयोः ।

१ क. ख. 'वसुहृदस्तेकादक्षिद' । २ ग. 'त्सोस्तत्प्राप्तेः प्राक् यश्चित्तलयः सविदेहानामसंप्रज्ञातः । एवं लिङ्गमात्रं प्राप्य ततः पुरुषं प्रपित्सोस्तमप्राप्य मध्ये यश्चित्तलयः संप्रकृतिलयानामसंप्रज्ञातः । तत्रा' । ३ घ. सा' । ४ ग. 'पिणीति । प' । ५ ग. 'न्दरूपस्य रूपं । ६ ग. तद्वदिति ।

पश्यन्वैतद्द्रष्टव्यं न पश्यतीत्यादिना तावेतौ गौणावसंप्रज्ञातौ भव-  
 प्रत्ययौ, समासान्निष्कृष्टेन परमानन्दपदेनोपायप्रत्ययो मुख्योऽसंप्रज्ञात  
 उच्यते । उपायश्च भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानामित्युक्तः । श्रद्धा-  
 वीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषामिति सूत्रिताः श्रद्धादयः । तत्पूर्व-  
 कोऽसंप्रज्ञातो मुख्यः । अत्रापि परमशब्देन चरमवाचिना प्रथममध्य-  
 मावाक्षिप्येते तेन स्वतोव्युत्थानः प्रथमः । परतोव्युत्थानो मध्यमः ।  
 उभयतोऽप्यव्युत्थानश्चरमः परमानन्दपदार्थः । एवं पञ्चविधोऽप्यसंप्र-  
 ज्ञातः श्लोकपूर्वार्धेनोक्तः । निमील्येति, अक्षीणीन्द्रियाणि समनस्कान्ये-  
 कादृशानि निमील्य निरुध्य बुद्धिनिरोधमकुर्वतोऽस्मीतिप्रत्ययमात्राल-  
 म्बनः सास्मितः संप्रज्ञात उक्तः । पालनात्पूरणाच्च परं ब्रह्म सर्वेश्वरः  
 सर्वात्मकः । यस्य विज्ञानात्सर्वविज्ञानं येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं  
 विज्ञातम्, (छा० ६।१।३) इति श्रूयते तमात्मानं सानन्दे संप्रज्ञाते योगिनः  
 पश्यन्ति कुत्र हृदि स्थितं न तु भावनया कल्पितम् । एवमुत्तरार्धेन  
 द्वौ संप्रज्ञातावुक्तौ । एवं भूबीजाङ्कुरतरुफलोपमेषु पञ्चसु ब्रह्मसु यद्भू-  
 स्थानीयं निर्गुणं तन्मुख्यस्यासंप्रज्ञातस्याऽऽलम्बनं, यद्बीजोपमं कारणं  
 तद्गुणस्यासंप्रज्ञातस्य, यत्त्वङ्कुरोपमं सूत्राख्यं सूक्ष्मं कार्यं तत्सास्मि-  
 तस्य संप्रज्ञातस्य यद्दृक्षोपमं स्थूलं विराडाख्यं कार्यं तत्सानन्दस्य संप्र-  
 ज्ञातस्याऽऽलम्बनं यत्तु पञ्चमं फलोपमं हरिहरगौरीगणेशादित्याद्यन्यत-  
 मविग्रहरूपं तद्विविधम्—मानसं बाह्यं च प्रतिमादिरूपम् । तत्र मानसं  
 विचारस्याऽऽलम्बनं, बाह्यं वितर्कस्याऽऽलम्बनम् । तत्र यदा मानसैः  
 शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा ब्रह्मभावना प्रवर्तते तदाऽयं सविचार-  
 इत्युच्यते, यदा तु शब्दाद्यनुसंधानं विनैवातिपरिचयात्स्वयमेव ब्रह्मभावः  
 स्फुरति तदा स निर्विचारः संप्रज्ञात इत्युच्यते ।

ध्यायन्तः परमं ब्रह्म चित्ते योगवशीकृतम् ।

भूतानि स्वात्मना तुल्यं सर्वाणि गणयन्ति ते ॥ १५ ॥

ध्यायन्तः कल्पितमूर्तिविषयं चित्तवृत्तिप्रवाहं कुर्वन्तस्तदेव परमं ब्रह्म-  
 पश्यन्ति तद्दर्शनफलं सूत्रितं भगवता पतञ्जलिना—“निर्विचारवैशारद्येऽ-  
 ध्यात्मप्रसादः । ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा । श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशे-  
 षार्थत्वात् ” इत्यध्यात्मप्रसादः । रजस्तमोभ्यां शून्यश्चित्तसत्त्वोत्कर्षः ।

१ घ. °क्तः । नातोऽयं मुख्यः । श्रं । २ ग. °क्षीणि स । ३ क. ख. °म्बनं सा । ४ क. ख. °ज्ञानायेनाश्रुतं भ । ५ क. °दासखिविवार । ख. °दास । ६ क. ख. °रत्र ।

तत्र सद्भूतार्थविषयिणी साक्षात्काररूपा प्रज्ञा भवति यया योगिनोऽती-  
तादीनर्थान्करतलामलकवत्पश्यन्ति । अतस्तस्या विषयो मानसमपि  
ब्रह्म सद्भूतमेव भवति । अत एव मूर्तेरपि नित्यं भक्तिमाहुः । तदिदमुक्तं  
ध्यायन्तश्च परं ब्रह्मेति । विचारप्रवृत्तिर्वितर्कपूर्विकेत्याह—चित्ते योगवशी-  
कृतमिति । योगः, चित्तस्य स्थूल आलम्बने पूर्ववच्छब्दाद्यनुसंधा-  
नपूर्विका तद्रहिता च भावना प्रवर्तते तदा तावुभौ सवितर्कनिर्वितर्कौ  
संप्रज्ञातौ भवतः । तत्र निर्वितर्कयोगवशीकृतं चित्ते निविष्टं सद्भूतार्थ-  
विषयप्रज्ञाप्रदं भवतीत्यर्थः । ऋतंभरप्रज्ञाप्रदेनाप्यनेन ज्ञानेन किं प्रयो-  
जनमित्यत आह—भूतानि स्वात्मना तुल्यं सर्वाणि गणयन्ति ते, इति ।  
यथा मम सार्वार्थ्यं स्वतः सिद्धं देहमात्रं त्वाविद्यकमेवं पिपीलिका-  
दीनामपि तदविशिष्टमिति न कांश्चिदवमन्यन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवंजानन्तः कथं लोके वर्तन्ते तदाह त्रिभिः—

ये न केनचिदाच्छिन्ना ये न केनचिदाहताः ॥

ये न केनचिदाकुष्टा ये न केनचिदाश्रिताः ॥ १६ ॥

ये पुरुषाः केनचिदपि तस्करादिना न, आच्छिन्नाः शस्त्रादिना  
धनादिपरिग्रहशून्यत्वात् । एवं येन केनचिदपि दायादादिना न, आह-  
ता लत्तादिना गृहक्षेत्रादेरपि त्यक्तत्वात् । येन केनचिदपि न, आकुष्टाः  
परुषोक्त्या पीडिता अहिंस्रवृत्तित्वात् । परोपमर्देन जीवन्परैराकुश्यत  
इति प्रसिद्धं, येन केनचिदपि शिष्यादिना न, आश्रिताः । एकाकित्वात् ।  
यद्वा येन केनचिदुन्मत्तेन, आच्छिन्ना अपि एवं येन केनचित्पापिष्ठेन,  
आहता अपि येन केनचित्परापवादशीलेन, आकुष्टा अपि येन केनचि-  
द्राजकीयेन जडभरतवाच्छिबिकादिवाहनार्थं विष्टिग्राहेणाऽऽश्रिता अपि  
न विक्रियन्ते ॥ १६ ॥

अत्र हेतुमाह—

करुणापूर्णहृदया भ्रमन्ति धरणीतले ।

अनुग्रहाय भूतानां जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ॥ १७ ॥

जितक्रोधत्वादपकारेऽपि न विक्रियन्ते । करुणापूर्णहृदयत्वादुद्वेष्टाना-  
मपि भूतानां विनाशो मा भूदिति तेषां ज्ञानप्रदानेनानुग्रहार्थं धरणीतले

चरन्ति । चरन्तोऽपि जितेन्द्रियत्वान्द्रूतानुग्रहादन्यन्न किमपि कामयन्त इत्यर्थः ॥ १७ ॥

देहमात्रभृतो भूप समलोष्टाश्मकाश्चनाः ।

एतादृशा महाभाग्याः स्युश्चक्षुर्गोचराः प्रिय ॥ १८ ॥

देहमात्रभृत इत्यनेन कन्थाकमण्डलुदण्डपादुकादिकमपि न धारयन्तीत्युक्तम् ।

भूमेति त्वया भूपालकेन दिगम्बराः सर्वोपायैः पालनीया इति ज्ञापयति यतः समानि लोष्टादीनि येषां ते समलोष्टाश्मकाश्चनाः । लोष्टं पांसुपिण्डः । अश्मानो दिव्यमणयः । काश्चनं प्रसिद्धम् । एतादृशं तीव्रवैराग्यरूपं महद्भाग्यमैश्वर्यं येषां त एतादृशा महाभाग्याः । न वैराग्यात्परं भाग्यमिति वैराग्यस्य महाभाग्यत्वं स्मृतमेते मम चक्षुर्गोचराः स्युर्भूयासुरित्यहमपि तेषां दर्शनमिच्छामि त्वमपि मत्प्रियत्वात्तेषां दर्शनं प्राप्स्यसीति सूचयति प्रियेति संबोधयन् ॥ १८ ॥

तदेवमादितो द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां विषयप्रयोजने त्रिभिर्ग्रन्थसंगतिः षड्भिर्मतान्तरनिरासस्त्रिभिरेवैर्विदुषां स्थितिश्च दर्शिता । शेषैश्चतुर्भिर्योगं नानाविधमित्यादिभिर्ब्रह्मविद्यामित्यादि सूत्रिता, तमेनं सूत्रितं योगमध्यायशेषेण तद्वृत्तिरूपेण व्याख्यातुं प्रतिजानीते—

तमिदानीमहं वक्ष्ये शृणु योगमनुत्तमम् ।

श्रुत्वा यं मुच्यते जन्तुः पापेभ्यो भवसागरात् ॥ १९ ॥

तं सूत्रितं योगमिदानीं तवाधिकारसंपत्त्यनन्तरमहं परमेश्वरो वेदानां कर्ता वक्ष्ये व्याकरिष्ये त्वं च तं योगं मया व्याक्रियमाणं शृणु, अवहितो भवेत्यर्थः । अनुत्तमं नास्त्युत्तममस्मादन्यदित्यनुत्तमम् । अतोऽन्यदार्तम् (बृ०३।४।२) इति श्रुतेः । यं योगं वेदान्तप्रतिपाद्यं श्रुत्वा मध्यमो जन्तुः पापेभ्यो मुच्यते । तथा च श्रुतिर्वेदान्तोत्पन्नपरोक्षज्ञानवतां क्रममुक्तिस्थानंप्राप्तिमाह—वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे (मु०३।२।६) इति । पापेभ्योऽधःपतनहेतुभ्यो मुच्यत उत्तमो जन्तुः कर्मभिः शोधित

उपास्त्या चैकाग्रिकृते चित्ते यं योगं श्रुत्वा दशमस्त्वमसीति वाक्याद्दशम-  
मिव तत्त्वमसीति वाक्याद्ब्रह्मात्मैक्यं श्रुत्वाऽपरोक्षी करोति तेन संसारा-  
देव मुच्यते । अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि तैदास्य विजज्ञे इतिश्रवण-  
मात्रादेर्वाऽभयप्राप्तेर्ज्ञानोत्पत्तेश्च दर्शनात् । यस्त्वधमो जन्तुः सोऽपि  
देशविशेषविशिष्टगुर्वनुग्रहादिमं योगं श्रुत्वा संसारान्मुच्यते । तथा  
चाविमुक्तं प्रकृत्य जाबाला आमनन्ति—अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममा-  
णेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति इति ।  
एतच्च धर्मानधिकारिशुद्धप्राणिवाचकं जन्तुपदं प्रयुञ्जानेन भगवता गजा-  
ननेन सूचितम् ॥ १९ ॥

तमेवानुत्तमं योगमाह—

शिवे विष्णौ च शक्तौ च सूर्ये मयि नराधिप ।

याऽभेदबुद्धिर्योगः स सम्यग्योगो मतो मम ॥ २० ॥

अत्र शिवादिषु पञ्चायतनदेवतास्वभेदबुद्धिर्या सा परमो योग  
इत्यर्थो दृश्यते, न चैतत्संभवति परस्परव्यावर्तकोपाधिषु जाग्रत्सु तैषु  
मुख्याया अभेदबुद्धेरसंभवात् । आहार्यायास्तस्या मुख्ययोगत्वायोगाच्च ।  
व्यावृत्तकृत्सोपाध्यपेक्षया त्वभेदबुद्धिर्ब्रह्मादिस्थावरान्तेष्वविशिष्टेति  
पञ्चानामेवोपादानमनर्थकं स्यात् । तस्मान्नायमर्थः साधीयान्कस्तर्ह्यु-  
च्यते—शिवे, विश्वतैजसप्राज्ञापेक्षया चतुर्थे निर्गुणे ब्रह्माणि शिवमद्वैतं  
चतुर्थं मन्यन्ते इति श्रुतेः । विष्णौ, उपादानतया व्यापके माया-  
शबले भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरिति वैष्णवात् । शक्तौ ततो  
निकृष्टायां मायायां, सूर्य आदित्यमण्डलस्थे हिरण्ये, मयि अस्मदर्थे  
चेति चकारोऽत्राऽऽकर्षणीयः । एतेषु शुद्धचिन्मात्ररूपा एवैत इत्यभेद-  
बुद्धिर्या सा मम सर्वज्ञस्य सम्यग्योगो मतः । ननु व्यावृत्तकृत्सोपाध्य-  
पेक्षयैवहाभेदबुद्धिः प्रकारान्तरेणोक्तेति चेन्न, उपाधीनामप्यत्र चिन्मा-  
त्रत्वस्यैव विवाक्षितत्वात् । \* तथा हि—अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्र-  
पञ्चप्रपञ्च इतिवचनादध्यारोपपक्षे परिणामवादाश्रयणात् । घटश-  
रावोदञ्चनादीनां मृदनन्यत्वेऽपि परस्परभेदस्यानिवार्यत्वं तथा शिवा-

\* इत आरभ्य श्रयणादित्यन्तग्रन्थो न विद्यते ग. पुस्तके ।

दीनां सदनन्यत्वेऽपि मिथो भिन्नेषु तेष्वभेदबुद्धेरसंभवान्नाधारोपः । अपवादे त्वपरिणता विवर्तिता विकल्पितचिन्मात्ररूपत्वेन सर्वेष्वभेद-  
बुद्धिसंभवात् । तदभिप्रायेण शिवादिष्वभेदबुद्धिर्विधीयते, अत एव  
वेदान्तेष्वधारोपादिकं शुद्धब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमुच्यते । तथा हि—  
सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति । इदं सर्वमसृजत  
तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ( २।६।१ )  
इति तैत्तिरीयके । ईश्वरशक्तिशबल आत्मा कामपूर्वकस्वमुत्सृजतेति च  
व्याख्यानद्वयश्रवणात्स्वात्मानं स्वयमेव सर्वप्रपञ्चाकारं कृतवांस्ततस्तमेव  
प्रपञ्चमाविश्य तत्तन्मूर्तामूर्तरूपोऽभवदिति तस्यैव जगज्जीवरूपेण परि-  
णतिरुक्ता, सोऽयमधारोपः । ततः सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्,  
यदिदं किंच तत्सत्यमित्याचक्षते ( तै० २।६।१ ) इति । परस्मि-  
न्सत्य ईशजीवजगतां त्रयस्याध्यासः । त्रये च सत्याध्यासइत्यन्योन्या-  
ध्यासमुखेन त्रयस्य सत्यविवर्तत्वमुक्तम् । ततः—असद्वा इदमग्र आसीत् ।  
ततो वै सद्जायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते  
( तै० २।७।१ ) इति—विवर्तहेतुरज्ञानं सत्यात्पृथङ्निष्कृष्य तस्यै-  
वासच्छब्दितस्यानन्यापेक्षस्य सर्वकारणत्वमुक्तम् । दृष्टश्च स्वप्र-  
पञ्चसृष्टावज्ञानस्यैव सर्वकारकीभावः । अज्ञानं च तुच्छत्वेनासत्त्वा-  
देव परिणामानर्हमिति तन्मूलकं विकल्पमात्रं त्रयमिति सिद्धं, यद्वैतत्सु-  
कृतं रसो वै सः ( तै० २।७।१ ) इति तस्यैव सुकृतापरनाम्नो बाधापर-  
नामा रसावशेषो नाश उक्तः सोऽयमपवादः स च लोके द्विविधो  
दृष्टः । यथा दग्धस्य पटस्य व्यक्तिनाशेऽप्याकृतिर्भासते कर्पूरस्य तु  
दग्धस्य किञ्चिदपि न भासते, तत्राऽऽद्यं सर्वात्मावभासरूपं सोपाधिब्रह्म-  
विदनुभवति तद्वर्णितं सामगाने—अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहम-  
न्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः । अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोक-  
कृत् । अहमस्मि प्रथमजा क्रतस्य ( तै० २।७।१ ) इति । द्वितीयमनुपाख्यं निरु-  
पाधिब्रह्मविदनुभवति । स च यदा ह्येवैष एतास्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽ-  
निलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति इति श्रुत्या  
दर्शितः । यथोक्तं वार्तिके—

सोपाधिर्निरुपाधिश्च द्वेधा ब्रह्मविदुच्यते ।

सोपाधिकः स्यात्सर्वात्मा निरुपाख्योऽनुपाधिकः ॥ इति ॥ २० ॥



एवं निष्कलानन्दमात्रस्वरूपस्यैवाऽऽत्मनो जगज्जन्मस्थितिलयकारण-  
त्वमाह-

अहमेव जगद्यस्मात्मृजामि पालयामि च ।

कृत्वा नानाविधं वेषं संहरामि स्वलीलया ॥ २१ ॥

नानाविधवेषं कृत्वा ब्रह्मविष्णुरुद्राणामाकृतीः कृत्वा जगतः सृष्ट्या-  
दिकं लीलया परैरनियोजित एव करोमि । तथा च श्रुतिः-आनन्दाद्ध्येव  
खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं  
प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ( तै० ३।६।१ ) इति । एतेन पूर्वश्लोकोक्तो विष्णु-  
र्मायाविसर्गादिकर्ता मत्त आनन्दैकरसान्न भिद्यत इत्युक्तम् ॥ २१ ॥

देवतादिभेदप्रदर्शिका मायाऽपि स्वकार्यसहिताऽहमेवेत्याह-

अहमेव महाविष्णुरहमेव सदाशिवः ।

अहमेव महाशक्तिरहमेवार्थमा प्रिय ॥ २२ ॥

अकारोकारमकारार्थं ब्रह्मविष्णुरुद्रा अन्ये कृत्स्नप्रणवार्थाः सूर्यमूर्तिरन्या  
तं वैष्णवा महाविष्णुरित्याचक्षते शैवाः सदाशिव इति । सौरा अर्थमेति,  
शाक्ताः शक्तिरिति चाऽऽहुः । ते सर्वेऽपि अखण्डानन्दरूपोऽहमेव । मत्त  
उत्पन्नत्वात्तेषां ' तदानीं नाऽऽसीद्रजो नो व्योमापरो यत् ' इति सृष्टेः  
प्राग्रजआदिवन्मायाया अप्यसत्त्वश्रवणान्मत्त एव परमव्योमाख्या  
शक्तिरुत्पद्यते किमु तत्प्रभवा महाविष्णवादयस्तस्मात्तेऽपि विशुद्धा-  
न्मतो नातिरिच्यन्ते, यद्वा ये पूर्वश्लोके शिवविष्णुशक्तिसूर्यशब्दैः क्रमा-  
च्छुद्धशबलसाक्ष्यसाक्षिण उक्तास्तेषां प्रत्येकं मयीत्यनेन सामानाधिक-  
रण्यादहमर्थाभेद उक्तः । तेनाहमर्थस्यैवाऽऽनन्दत्वात्ततो जगज्जन्माद्युक्तं  
द्वितीये तृतीय उपक्रमश्लोकः सूचितस्तेषामहमर्थाभेदः स्पष्टीकृतः । तथा  
द्युदाहृतं सामगाने अहमन्नमिति साक्ष्येणाहमन्नाद इति साक्षिणाऽह  
श्लोककृदिति शबलेन, अहमस्मि प्रथमजा इति तेषामधिष्ठानेन शुद्धेन  
चाहमर्थस्याभेदः श्रूयते, तदयं श्लोकत्रयार्थसंग्रहः-

असद्वृश्यं शक्तिर्दृशिरसुभृदर्कः सुखमय-

स्तयोः स्रष्टा विष्णुस्तदधिकृति सत्यं शिव इति ।

चतुर्णां संघोऽयं कचति यदभेदेन तदहं—

कृति द्योतिज्योतिर्जयति गणराजेति विंदितम् ॥ इति ।

असद्वा इदमग्र आसीत् ( तै०२।७।१ ) इति श्रुत्युक्तमसत्परमव्योमाख्या  
माया पञ्चायतनदेवतासु शक्तिरित्युच्यते सैव सर्वदृश्यम् । अर्कं आत्मा सूर्यं  
आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति मन्त्रवर्णात् । स च, असुभृत, असूपलक्षितं कोश-  
पञ्चकमात्मत्वेन धारयतीत्यसुभृत । मनुष्योऽहमश्रामि शोचामि करोमि  
स्वपामीत्यन्नमयादिधर्माणामात्मन्यारोपदर्शनात् । एवमपि दृशिः सूर्यवत्प्र-  
काशकः । मम देहो मम प्राणा मम मनो मम बुद्धिर्मम ज्ञानमिति तद्-  
र्शितत्वानुभवात् । ‘ गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरयिण ब्रह्मणाऽविन्ददत्रिः’  
इति । तमसा गूढं सूर्यं तुर्यब्रह्मरूपेणात्रिरविन्ददिति । अखिलमोहवत्त्व-  
विगमात्सूर्यो जीवात्मा सुखमय आनन्दमय ईश्वरो जगज्जीवयोः स्रष्टा  
सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति इदं सर्वमसृजत तदनु प्रविश्य सञ्च  
त्यञ्चाभवत् ( तै०२।६।१ ) इति तस्यैव तदात्मत्वदर्शनात्, सोऽत्र विष्णुरि-  
त्युच्यते । यत्तु तदधिकृति तेषां त्रयाणामध्यासस्याधिकरणं स्वसत्तया  
तानूपूरयति बिम्ब इव प्रतिबिम्बान् । तत्सत्यं चानृतं च सत्यमभवद्यादिदं  
किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते ( तै०२।६।१ ) इति श्रुतिप्रसिद्धं सत्यं तदत्र  
शिवशब्दार्थः । अयं चतुर्णां संघो गणो यदभेदेन ‘ अहमन्नमहमन्नादः,  
अहं श्लोककृत् ’ अहमस्मि प्रथमजा ( तै०३।१०।६ ) इति । कचति  
वीप्यते तदहंकृतिर्द्योतिज्योतिः । अहमित्यभिमानं करोतीत्यहंकृतिः,  
धीस्तत्र प्रति बिम्बितं चैतन्यं तद्द्योतते येन तद्विम्बभूतं चतुर्थं शिवा-  
ख्यमहंकृतिर्द्योति । उपाधिनाशे प्रतिबिम्बवद्विम्बत्वस्याप्यपगमे यदव-  
शिष्टमव्यावृत्ताननुगतं चतुर्थाभिन्नमपि तुर्यातीतं ज्योतिस्तदेव चतुर्णां  
गणो राजतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या गणराजेति गदितं जयति । तथा च मन्त्र-  
वर्णः—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ( तै०१।१।१ ) इति । शिवस्य सत्यज्ञानरूप-  
त्वेऽपि चतुर्णां पूरणत्वेनेतरव्यावृत्तस्य मुख्यानन्त्यायोगात् । तस्माद्यदेव  
तुर्यातीतं तदेव गणराजशब्दार्थभूतं ब्रह्म ॥ २२ ॥

१ ग. गदितम् । २ घ. ‘कश्चोकोक्तम्’ । ३ ग. ‘सूर्यस्तत्र’ । ४ क. ख. ‘ममाज्ञा’ ।  
५ क. ख. ‘तिदक्षित्वा’ । ६ घ. ‘ति । अत्रिमो’ । ७ क. ख. तत्र । ८ ग. ‘आदोहः’ । ९ क. ख.  
‘तिश्रुति’ । १० ग. ‘इति धी’ । ११ क. ख. ‘तिचित्तं चै’ । १२ ग. ‘म्बत्व’ ।

तदेवमात्मनस्तत्त्वमुक्त्वा मन्दमतिप्रबोधाय तस्यैव मायाशबलं रूप-  
माह—

अहमेको नृणां नाथो जातः पञ्चविधः पुरा ॥

अज्ञानान्मां न जानन्ति सर्वकारणकारणम् ॥ २३ ॥

एकोऽहमेव नृणां स्थावरजङ्गमानां जीवानां नाथ ईश्वरोऽन्तर्यामी  
पुरा सृष्टेरादिकाले पञ्चविधः पञ्च वियदादयो विधाः प्रकारा यस्य  
तथाभूतो जातः काञ्चनकटकन्यायेनाहमेव वियदादिभावं प्राप्त  
इत्यर्थः । नन्वसङ्गस्त्वं किमर्थमात्मनो मायाशाबल्यं ख्यापयसीत्या-  
शङ्क्याऽऽह—अज्ञानादिति । कारणस्य मायाविनोऽपि कारणं शुद्धा-  
नन्दरूपं मामज्ञानान्मोहान्न जानन्ति । अतस्तेषामनुग्रहाय माया-  
शबलमेवरूपं प्रथमं प्रकाशयत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

अहं पञ्चविधो जात इत्युक्तं तत्पञ्चविधत्वमेवाऽऽह—

मत्तोऽग्निरापो धरणी मत्त आकाशमारुतौ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च लोकपाला दिशो दश ॥ २४ ॥

मत्त इति जात इति च सर्वत्रानुकृष्यते । मत्त इति पञ्चम्या जनि-  
कर्तुः प्रकृतिरिति स्मृतेर्जायमानानामग्न्यादीनामुपादानत्वमात्मनो दर्शि-  
तम् । एतच्चाऽऽत्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्थं, सर्वत्र हि वेदान्तेषु सृष्टिश्रुतय आत्मै-  
कत्वप्रतिपत्त्यर्था इति घण्टाघोषः । यदाहुर्वृद्धाः—

यदानन्त्यं प्रतिज्ञाय श्रुतिस्तत्सिद्धये जगौ ।

तत्कार्यत्वं प्रपञ्चस्य तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ इति ।

अग्निस्तेजः । अबादयः प्रसिद्धाः । न केवलं पञ्च महाभूतान्येव मत्तो  
जातानि भौतिकानामपि ब्रह्मादिस्थावरान्तानां शरीराणां मत्तोऽन्य-  
द्वान्तरं कारणं नास्तीत्याह ब्रह्मेति । ब्रह्मा चतुर्मुखः । विष्णुर्लक्ष्मीपतिः ।  
रुद्रः पार्वतीपतिः । लोकपाला इन्द्रादयः । सूर्यगतिप्रकल्पिता दश  
प्राच्यादयो दिशः ॥ २४ ॥

वसवो मनवो गावो मुनयः पशवोऽपि च ॥

सरितः सागरा यक्षा वृक्षाः पक्षिगणा अपि ॥ २५ ॥

वसवोऽष्टौ धरादयः । एतच्च, एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्यास्त्रयो-  
दश विश्वे देवा इत्येवमादीनां गणदेवतानामप्युपलक्षणम् । मनवश्च-  
तुर्वश, गावः सुरभ्यादयः । मुनयो बसिष्ठादयः । पशवो गवाश्वादयः ।  
अपिचेतिशब्दाभ्यामनुक्तां गन्धर्वादयः । सरितो गङ्गादयः । सागराः  
क्षीरोदादयः । यक्षाः कुबेरादयः । वृक्षा न्यग्रोधाश्वत्थादयः पक्षिगणा  
हंससारसादयः । अपिशब्दादन्येऽपि खेचरा भूतवेतालादयः ॥ २५ ॥

अथैकविंशतिः स्वर्गा नागाः सप्त वनानि च ॥

मनुष्याः पर्वताः साध्याः सिद्धा रक्षोगणास्तथा ॥ २६ ॥

एकविंशतिः स्वर्गाः सप्त द्वीपानि मेरुपृष्ठं चेत्यष्टौ, भूलोकान्तर्गता भोग-  
भूमयो भुव आदयः षट्, सप्त पातालानि चेति । नागा वासुकीप्रभृतयः ।  
सप्त वनानि काम्यकादीनि, चकारान्नवारण्यानि नैमिषादीनि, मनुष्याः  
र्वताश्च प्रसिद्धाः । साध्या देवानामपि देवाः । सिद्धाः कपिला-  
दयः । रक्षोगणाः पौलस्त्यादयः । तथा तत्तुल्या असुरा हिरण्या-  
क्षादयः ॥ २६ ॥

एवं शिवे विष्णौ चेत्यादिश्लोकत्रयेणाभ्यर्हितत्वात्तुर्यातीतं गणेशं  
व्याख्याय, अहमेक इत्यादिश्लोकचतुष्टयेन तृतीयं विष्णुं च व्याख्याय  
साक्ष्यान्निष्कृष्टसाक्षिणं सूर्यं व्याचष्टे—अहं साक्षीति सार्धेन ।

अहं साक्षी जगच्चक्षुरलिप्तः सर्वकर्मभिः ।

अविकारोऽप्रमेयोऽहमव्यक्तो विश्वगोऽव्ययः ॥ २७ ॥

जगच्चक्षुरादित्यः । तद्वत्प्रकाश्याज्जगतोऽन्यः सन्प्रकाशकः । अत एव  
साक्षादिन्द्रियमनआलोकव्यवधानमन्तरेणेक्षणात्साक्षी सर्वेषां कोशानां  
कर्माणि कायवाङ्मनोभिः कृतानि पापानि तैरलिप्तः । य आत्माऽपहत-  
गम्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः (छा०८।१५।) इति  
तस्मिन्प्रसक्तानां कोशधर्माणां निषेधादविकारो विकारादन्यो विकारर-  
हितश्च । अप्रमेयो रूपादिहीनत्वात् । अव्यक्तो रूपादिहीनोऽप्याकाशवन्न  
व्यक्तः । विश्वग इति विश्वस्माद्व्यावृत्तत्वं विश्वगतत्वं चोक्तम् । अव्ययः,  
अपक्षयादिधर्मशून्यः ॥ २७ ॥

ननूपेहितस्योपाधिधर्मानात्मन्यभिमन्यमानस्य साक्षिणः कथमविकारत्वादिकमित्याशङ्क्य परमार्थतस्तस्य परब्रह्मानन्यत्वादित्याह-

अहमेव परं ब्रह्माव्ययानन्दात्मकं नृप ।

अहमिति अहमेव देहाद्युपहितोऽपि वस्तुतोऽव्ययोऽखण्डः स चासाधानन्दश्चेत्यव्ययानन्दस्तदात्मकोऽहं तस्मात्कोशपञ्चकात्सकारणात्परस्य ब्रह्मणो ममाविकारत्वादिकं युक्तमेवेत्यर्थः ।

ननु मत्तोऽग्निराप इत्यादि स्ववचनादेवाग्न्यादिरूपेण विकारं प्राप्तस्य बाह्येन्द्रियग्राह्यस्य व्यक्तस्य परिच्छिन्नस्य कार्यस्य रूपेण जन्मादिमतः कथमविकारोऽप्रमेयोऽहमव्यक्तो विश्वगोऽव्यय इत्युक्तधर्मयोगित्वं तस्मात्पूर्वापरविरोध इत्याशङ्क्याऽऽह-

मोहयत्यखिलान्माया श्रेष्ठान्मम नरानमून् ॥ २८ ॥

अघटितघटनापटीयसी माया श्रेष्ठात्मज्ञानैश्वर्यादिमत्तया प्रशस्तमानपि ब्रह्मादीनखिलान्सुरनरादिक्रमेण स्थावरान्तान्नरान्, देहेन्द्रियादिनेतृत्वात्तदभिमानेन ब्रह्मणोऽहमित्याद्युक्तरूपेण युक्तान्मोहयति, अन्यथाबुद्धिं जनयति ॥ २८ ॥

मोहयतीत्येतदेव विवृणोति सार्धेन-

सर्वदा षड्विकारेषु तानियं योजयेद्भृशम् ॥

हित्वाऽजापटलं जन्तुरनेकैर्जन्माभिः शनैः ।

विरज्य विन्दति ब्रह्म विषयेषु सुबोधतः ॥ २९ ॥

सर्वदा षड्विकारेषु, हित्वाऽज्ञा(जा)पटलं जन्तुः, विरज्य विन्दति ब्रह्मविषयेषु सुबोधत इति, तान्नरानियं माया षड्विकारेषु षट्, जायतेऽस्ति, विपरिणमते, वर्धतेऽपक्षीयते, विनश्यतीति यास्कोक्ता येषां सन्ति ते षड्विकाराः । चतुरशीतिलक्षयोनिरूपा उपाधयस्तेषु भृशम्, अत्यन्तं तदात्मभावेन सर्वदा, आद्यन्तरहितम्, अनवरतं योजयेत् । योजयन्ती बाल्यादिषु जाग्रदादिषु चावस्थासु परस्परं व्यावृत्तास्वप्यनुवर्तमानमेकमहमर्थालम्बनमात्मानं कुसुमसूत्रन्यायेन भिन्नं जानन्नपि तदभेदाध्यासेन तद्भर्मर्माङ्गी च भवति । योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं सोऽहं स्थाविरे प्रणमूननुभवामि । तथा योऽहं गाढगूढोऽस्वाप्सं स एव स्वप्नमद्राक्षं स

एवेदानीं जागर्मीति । एवं देहादिभ्यः पृथग्भूतमात्मानं जानन्नपि बालोऽहं युवाऽहं वृद्धोऽहं कृशोऽहं खञ्जोऽहमिति देहधर्मानात्मन्यध्यवस्यति काणोऽहं बधिरोऽहमितीन्द्रियधर्मान्क्षुधितोऽहं तृषितोऽहं शोचाम्यहं मुह्याम्यहं सुख्यहं दुःख्यहं कर्ताऽहं भोक्ताऽहं बोद्धाऽहमज्ञोऽहं न चेतयामीतिक्रमैण प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाख्यकोशचतुष्टयधर्मानात्मन्यध्यवस्यति । एवं च संघातादन्यः सन्नपि संघातात्मत्वं जीवो हि यथाऽऽत्मनो मन्यते ततश्च कर्मद्वारा कृत्स्नं भोग्यजातं सृजत्यवति संहरति च, एवं शिवो मायाप्रकाशकोऽपि मायां स्वशरीरत्वेन परिगृह्य तद्धर्माञ्जगज्जन्मस्थित्यन्तकर्तृत्वादीनात्मनि मन्यमान एव जगज्जन्मादिकारणं मन्यते मत्तोऽग्निराप इत्यादिना च तद्वर्शितम् । नन्वेवं मायायाः प्रभावश्चेदस्मदादीनां का मोक्षं प्रत्याशेत्याशङ्क्याऽऽह हित्वेति, दधातेरिदं रूपम् । अजापटलं मायापटलं मायारूपमावरणं ब्राह्मणोऽहं गृहस्थोऽहमितिवर्णाश्रमाभिमानरूपं धृत्वैव तत्र तत्र विहितानि कर्माणि कुर्वञ्जन्तुः शनैः शनैरारोहक्रमेणानेकैर्जन्मभिर्वैराग्यं लभते, वैराग्याच्च यमादीननुष्ठाय सदाचार्यप्रसादलब्धयोगमार्गो ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तानन्दस्वरूपं कृत्स्नमायापगमे सति विन्दति लभते । वक्ष्यते च कर्मणां चित्तशोधकत्वान्मोक्षहेतुत्वम् । उक्तं च विष्णुनाऽन्वयव्यतिरेकाभ्याम् “कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः” इति । “न कर्मणामनारम्भात्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते” इति । ननु चित्तशुद्ध्यादिकं मायामाश्रित्य जायतां नाम ब्रह्मभावस्तु मायापगममात्रावसितः कथं हित्वेत्यस्य धृत्वैति व्याख्यानमत आह—विषयेषु सुबोधत इति । विषयेषु दृश्येषु प्रमातृप्रमाणप्रमेयेषु सत्सु तेषां प्रकाशकं ब्रह्म दृग्वृत्तं प्रकाशतेऽन्यथो ते सुषुप्ताविव नाहं ब्रह्मास्मीतिबोधसंभावनाऽस्ति । यथोक्तम्—

परार्थप्रमेयेषु वाक्यजत्वेन संमता ।

संवित्सैवैह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥ इति ।

अहं ब्रह्मास्मीति वाक्यजा वृत्तिरपि मायैव, तत्र यथा जलचन्द्रद्वारा मुख्यचन्द्रो गृह्यत एवं वाक्यजवृत्तिप्रतिबिम्बितचिद्द्वारा मुख्या चिद्गृह्यते, मायापगमस्तच्छेषत्वेनोपयुज्यते वाक्यजां वृत्तिं विना तन्मात्रेण ब्रह्मलाभासंभवादिति युक्तमुक्तं विषयेषु सुबोधत इति ॥ २९ ॥

१ क. क. जीवा हि यथाऽऽत्मनोमन्यते ततश्च । २ क. ख. °नां मोक्षप्रयय इत्या° । ३ घ. °च शमा° । ४ क. ख. °था सु° । ५ क. ख. °गथ प्रमेयेषु वाक्यतत्वे° ।

एवं विष्णुसूर्यशक्तिसंज्ञेषु सोपाधिब्रह्मसु मिथोव्यावृत्तेषु यदनुवृत्तं शिवाख्यं चतुर्थं ब्रह्म मुक्तोपसृप्यं तत्र बिम्बीभूते ब्रह्मणि प्रतिबिम्बेष्विवोपाधिधर्माणां प्रसक्तिर्नास्तीति वक्तुं प्राप्यं ब्रह्म विशिनष्टि—

अच्छेद्यं शस्त्रसंघातैरदाह्यमनलेन च ॥ ३० ॥

यथा दारूपहितो वह्निर्दारुणि छिन्ने दग्धे वा न छिद्यते दह्यते वा । यस्मादुपहितमपि विष्णुमुपाधिधर्मा न स्पृशन्ति, तदाऽनुपहिते शिवे तत्प्रसक्तिर्दूरं निरस्तेत्यर्थः ॥ ३० ॥

ननु युक्तं विष्णोरैश्वर्यादुपाधिधर्मास्पर्शित्वं जीवे तु जलसूर्यन्यायेनोपाधिकधर्मस्पर्शो दुर्निवार इत्याशङ्क्याऽऽह—

अक्लेद्यं भूप भुवनैरशोष्यं मारुतेन च ।

अवध्यं वध्यमानेऽपि शरीरेऽस्मिन्नराधिप ॥ ३१ ॥

अक्लेद्यं भूप भुवनैरशोष्यं मारुतेन चेति । यद्यपि जलसूर्ये कम्प इव देहिनि दुःखादिकं प्रतीयते तथाऽपि तन्न वास्तवम् । उपाध्युपहितयोर्वास्तवसङ्गाभावात् । यथोक्तम्—

निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणो ।

आत्मनोऽनामना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥ इति ।

अत एव यथा सूर्यप्रतिबिम्बो जलेनान्तःप्रविशता न क्लिद्यते प्रशिथिलावयवो न क्रियते तथा जीवोऽप्युपाधिधर्मेन विक्रियत इत्यर्थः । यथोक्तम्—

नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता काविकारिणः ।

धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः ॥ इति ।

एवं यथा मारुतेन जले शोषितेऽपि जलसूर्यो न शुष्यत एवं जीवोऽप्युपाध्यपगमे सूर्यवदनुपहितेनैव रूपेण वर्तत इत्यर्थः । तथा शक्तिरव्यक्तरूपा न व्यक्तवधेन वध्यत इत्याह—अवध्यं वध्यमानेऽपि शरीरेऽस्मिन्नराधिपेति । यद्यक्तं नाशार्हं कारणं मृत्सुवर्णादि तदपि घटकटकादिनाशान्न नश्यति किमु वक्तव्यं नाशानर्हमव्यक्तं न नश्यतीति ॥ ३१ ॥

एवं जीवन्मुक्ता हृदे मग्नाः परमानन्दरूपिणीत्यत्र सूचितः परम आनन्दो विष्णुसूर्यशक्तिभ्यः प्रतिबिम्बेभ्यो बिम्बभूताच्छिवाच्चान्यो गण-

पतिरिति व्याख्यातः । जीवन्मुक्ता इति मुक्तिप्रतियोगित्वेन सूचितो बन्धोऽपि व्याख्यातव्यः । तथा जलचन्द्रे कम्पनवज्जीवे दुःखादिकं मिथ्येत्यजानतः पञ्चदेवताविमुखस्य मन्दस्य गतिरपि व्याख्यातव्या तदुभयं तन्त्रेण व्याचष्टे । यामिमां पुष्पितां वाचमित्यादिना श्लोकत्रयेण—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रशंसन्ति श्रुतीरिताम् ।

त्रयीवादरता मूढास्ततोऽन्यन्मन्वतेऽपि न ॥ ३२ ॥

यामिमामध्येतुप्रसिद्धां वाचं गिरं श्रुतीरिताम् । स्वतःप्रमाणभूतेन धेदेनेरिताम्, “ अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ” “ अपाम सोमममृता अभूम ” ( अथर्वशि० ३ ) इत्यादिकां कर्मफलस्याऽऽनन्त्यप्रतिपादिकां पुष्पिताम्, पुष्पितलतावदापातरमणीयां कर्मफलस्याऽऽनन्त्यासंभवात् । अविवाक्षितस्वार्थामित्यर्थः । तथा च यत्कृतं तदनित्यमिति तर्कानुगृहीता श्रुतिः । तद्यथा इह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्याजतो लोकः क्षीयते ” ( छा० ८।१।६ ) इति । तथा “ पृथा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ” ( मु० १।२।७ ) इति कर्मभिः संसारनिवृत्यदर्शनात् । त्रयी वदत्रयी, तस्यां य उदाहृता वादा अक्षय्यफलत्वाद्यर्थवादास्तन्मात्रनिष्ठास्त्रयीवावरताः । अत एव मूढाः, मूढत्वादेवेतोऽन्यत्, श्रेयःसाधनम्, उपासनारूपं ज्ञानरूपं वा महाफलमस्तीति मन्वतेऽपि न मनसाऽपि न संभावयन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

कुर्वन्ति सततं कर्म जन्ममृत्युफलप्रदम् ।

स्वर्गैश्वर्यरता ध्वस्तचेतना भोगबुद्धयः ॥ ३३ ॥

अत एव ननु बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रियेति भारते सर्वस्यापि धर्मस्य वैफल्यं नास्तीत्युक्तम् । तथा हि “ शुष्यत्सस्य-संजीवनकामः कारीर्या यजेत ” इत्यादिशास्त्रविहितो दृष्टफलः कारीर्यादिधर्मो दृष्टफलकेषु बहुवित्तव्ययायाससाध्येषु कर्मसु श्रद्धोत्पादनायोपयुज्यते । तथा स्वर्गैकफलो धर्मोऽपि विशिष्टदेहप्रापकत्वाद्विशिष्टदेहे गर्भस्य सत्त्वोत्कर्षायत्तत्त्वात्सत्त्वोत्कर्षश्च वैराग्यादिहेतुः परम्परया मुक्तिहेतुर्भविष्यति । यथोक्तं वार्तिके—



विद्धुराहादिदेहेन नह्यैन्द्रं भुज्यते पदम् । इति ।

भोगं भङ्गुरमीक्षन्ते चित्तशुद्धयनुरोधतः । इति च ॥ ३३ ॥

संपादयन्ति ते भूप स्वात्मना निजबन्धनम् ।

संसारचक्रं युञ्जन्ति जडाः कर्मपरा नराः ॥ ३४ ॥

ननु वैदिककर्मणां परम्परया मोक्षहेतूनां बन्धसंपादकत्वोक्तिरनुपप-  
न्नेति चेत्, सत्यं त्रिविधाः कर्माधिकृताः । एके ध्वस्तचेतना अत्यन्तमूढा-  
स्तामसाः परलोकवार्तानभिज्ञाः । न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमा-  
द्यन्तं चित्तलोभेन मूढम्, अयं लोको नास्ति पर इति । \* ( तदुक्तम्—  
कुर्वन्तीत्यर्थेन । अपर ऐहिकामुष्मिकसुखासक्तास्ते भोगबुद्धयो राजसाः  
स्वर्गैश्वर्यरता यया ) मानी पुनःपुनर्वशमापद्यते य इति श्रुतिप्रसिद्धाः ।  
ते वैदिकेषु श्येनादिकेषु शत्रुवधादिफलेषु सततं प्रवर्तमाना जन्ममृत्युपर-  
म्परामेव लभन्ते, श्येनादीनां फलद्वाराऽनर्थहेतुत्वेन धर्मत्वाभावात् ।  
यथोक्तम्—

फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थमनुबध्यते ।

केवलं प्रीतिहेतुत्वात्तद्भ्रम इति कथ्यते ॥ इति ।

ययातिनहुषप्रभृतयो रजःपरिणामात्सर्वभूताभिमानात्परदाराभिलाषा-  
त्स्वात्मनैव स्वस्य बन्धनमधःपातरूपमपि तिर्यग्योनिप्रवेशं च संपा-  
दयन्तीति भारते प्रसिद्धम् । तदिदमुक्तं स्वर्गैश्वर्यादिना, उपसंहरति  
संसारं इति । जडाः, वक्ष्यमाणमदभिप्रेतकर्मयोगानभिज्ञाः संसारचक्रं  
युञ्जन्ति संततमावर्तयन्ति । वैदिककर्मपरा अपि मुक्तिद्वारं न लभन्त  
इत्यर्थः । बहुद्वारस्येति भोगं भङ्गुरमित्यादिभारतवार्तिकवचनं तु सात्वि-  
कधर्माभिप्रायमिति न कश्चिद्विरोधः ॥ ३४ ॥

एवं तामसं राजसं च कर्म वेदोक्तमपि बन्धनकरमित्युक्तम् । इदानीं  
हित्वाऽजापटलमिति मायामाश्रित्यैव वैराग्याद्युत्पत्तिद्वारा ब्रह्म प्राप्यत  
इत्युक्तं, तद्विवृणोति सात्त्विककर्मयोगदर्शनेन यस्य यद्विहितं कर्मेत्यादि-  
श्लोकपञ्चकेन—

\* धनुश्चिह्नान्तर्गमन्थो न क. ख. पुस्तकयोः ।

यस्य यद्विहितं कर्म तत्कर्तव्यं मदर्पणम् ।

ततोऽस्य कर्मबीजानामुच्छिन्नाः स्युर्महाङ्कुराः ॥ ३५ ॥

अन्तर्बाह्येन्द्रियाणां चेत्यादिना शास्त्रान्ते वक्ष्यमाणरीत्या यस्य ब्राह्मणादेर्वर्णस्य गृहस्थादेराश्रमस्य वा यत्, श्रुतिस्मृत्याचारैर्विहितं कर्म तत्तेनानुष्ठाय मदर्पणं कर्तव्यम् । अप्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽर्पणसाधनं मनः । अप्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणव्युत्पत्त्याऽर्पणस्थानं च । ईश्वरप्रेरितेन कृतं कर्मेश्वरेऽर्पितमास्त्विति सकलफलत्यागपूर्वकं कर्म कर्तव्यमित्यर्थः । ततः, इदृशकर्मकरणात्, अस्य कर्तुः कर्मबीजानां वासनानां महाङ्कुराः, महाफलकार्याशा इदं मे भूयादिदं मे भूयादिति मनोरथाः फलपर्यन्तं प्रवृत्तिजनका उच्छिन्नाः स्युर्भवन्ति ॥ ३५ ॥

ततः किमत आह—

चित्तशुद्धिश्च महती विज्ञानसाधिका भवेत् ।

विज्ञानेन हि विज्ञातं परं ब्रह्म मुनीश्वरैः ॥ ३६ ॥

एवं कर्माणि मय्यर्पयतो महती चित्तशुद्धिर्भवेत् । इदं मे भूयादितिकामानुदये हि रागद्वेषादिदोषरहितं चित्तं मदुक्तयोगानुष्ठानयोग्यं भवति । चकाराच्छुद्धे चेतसि मद्विषया जिज्ञासा विज्ञानं च तत एव कर्मापणयोगान्द्भवेदित्यवधेयम् । तथा हि “ यस्येते अष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः स ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां गच्छति ” इति स्मृतेः कर्मणां चित्तशुद्धिरूपसंस्कारमात्रार्थत्वं गम्यते, तदर्थानामपि तेषां स्वर्गरूपं फलमानुषङ्गिकमित्यवगम्यते, तद्यथाऽऽग्ने फलार्थं निमित्तेऽपि च्छायागन्ध इत्यनूत्पद्यते, एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्त इत्यापस्तम्बोक्तान्ननिदर्शनात् । तथा तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ( बृ० १४४।२२ ) इति श्रुत्या वेदानुवचनादीनां ब्रह्मचारिधर्माणां यज्ञदानादीनां गृहस्थधर्माणां तपोनशनादीनां वानप्रस्थधर्माणां चाऽऽत्मविविदिषार्थत्वं गम्यत इत एव वाक्यात् । अश्वेन जिगमिषति, असिना जिघांसतीतिवत्करणस्य धात्वर्थेनान्वयात् । कर्मणां विद्यार्थत्वमपि गम्यत इति प्रथमेन सह त्रयः पक्षाः । तत्र कर्मणां संस्कारक-

१ घं. स्य कर्मकं । २ क. ख. °तिथ्युतः° । ३ घं. °ते अपिच्छायागन्धाश्चानूत्पद्यन्ते । ए° ।  
४ ख. °मेवं वे° ।

त्वपक्षे विविदिषादिकं सत्सङ्गादिफलं, विविदिषार्थत्वे तु विशिष्टगुर्वा-  
दिलाभः स्वयत्नसाध्यः । विद्यार्थत्वपक्षे तु निष्प्रत्यूहं विद्यालाभपर्यन्तं  
कर्मापूर्वमेव व्याप्रियत इति विशेषः । अयमेव पक्षो ममाभिमत इत्याह—  
विज्ञानसाधिकेति । विज्ञानेन विद्यया विज्ञातं साक्षात्कृतम् । एतेनैव-  
रार्थं स्वपक्षस्यैवाभ्यर्हितत्वं दर्शितम् ॥३६॥

कर्मयोगमुक्तस्वरूपफलमुपसंहरति—

तस्मात्कर्माणि कुर्वीत बुद्धियुक्तो नराधिप ।

न त्वकर्मा भवेत्कोऽपि स्वधर्मत्यागवांस्तथा ॥ ३७ ॥

यस्मादेवं तस्मात्, बुद्धियुक्तः, तत्कर्तव्यं मदर्पणमिति मदुक्तबुद्धि-  
युक्तो विज्ञानकामः सात्त्विकानि कर्माणि कुर्वीत । स्वरूपतः कर्मत्यागे  
दोषमाह—न त्वकर्मेति । अकर्मा कोऽपि कश्चिदपि न भवेत् । विहितं  
कर्म सर्वथैव न त्याज्यमित्यर्थः । विपक्षे दोषमाह स्वधर्मत्यागवांस्तथा ।  
तथा सति कर्मत्यागे कृते सति स्वधर्मत्यागवान्भवति । विहिताकरणा-  
त्प्रत्यवैतीत्यर्थः । तथा च स्मृतिः—

सप्ताहं प्रातरस्नायी संध्याहीनस्त्रिभिर्दिनैः ।

द्वादशाहमनग्निश्चेद्विजः शूद्रत्वमृच्छति ॥ ” इति

कर्मत्यागस्य जातिभ्रंशकरत्वमाह ॥ ३७ ॥

एतदेवाऽऽह—

जहाति यदि कर्माणि ततः सिद्धिं न विन्दति ।

आदौ ज्ञाने नाधिकारः कर्मण्येव स युज्यते ॥ ३८ ॥

यदि अयं प्रमादादशोधितचित्तोऽपि कर्माणि जहाति त्यजति  
ततस्तादृशात्कर्मत्यागात्सिद्धिं संन्यासफलं योगं न विन्दति, प्रत्युत  
प्रत्यवैत्येवेत्यर्थः । ननु ज्ञानसाधनमेव शमादिपूर्वकं श्रवणादिकमनुष्ठेयं  
ज्ञानाथना किमस्य कर्मयोगानुष्ठानेन ।

‘ दिने दिने तु वदान्तश्रवणाद्भक्तिसंयुतात् ।

गुरुशुश्रूषया लब्धात्कृच्छ्राशीतिफलं लभेत् ” ।

इति स्मृतेः श्रवणजेन धर्मेण चित्तशुद्धेरपि संभवादित्यत आह-आ-  
दाविति । अकृतकर्मणः कर्मफलभूताया विविदिषाया अभावेन विद्यासा-  
धने प्रवृत्त्यसंभवात् । औत्सुक्याच्छ्रवणादौ प्रवृत्तस्य वैधमपि न फलाय  
भवति बन्ध्यापतेर्ऋतौ भार्यामुपेयादितिविधिप्राप्तोपगमनफलवत् । तथा च  
श्रुतिः 'श्रवणार्यापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'  
(कठ०२।७) इति । तस्मादादौ कर्मानुष्ठानात्प्राक्कर्मण्येवाधिकारो युज्यते  
न ज्ञाने । यस्य तु जडभरतविदुरधर्मव्याधादेर्ना(रन)धिकारादकृतकर्म-  
णोऽपि ज्ञानोत्पत्तिर्हृश्यते, तस्य जन्मान्तरीयं धर्मानुष्ठानं कल्प्यत इत्य-  
दोषः । शास्त्रसमर्पितसाधनताया व्यभिचारित्वायोगात् ॥ ३८ ॥

स्वोक्तबुद्धियोगं सफलमुपसंहरति—

कर्मणा शुद्धहृदयोऽभेदबुद्धिमुपैष्यति ।

स च योगः समाख्यातोऽमृतत्वाय हि कल्पते ॥ ३९ ॥

अभेदबुद्धिमित्यमृतत्वायेति च च्छेदः । धर्मेण पापमपनुदति(तै०आ०१०।  
६३)इति श्रुतेः स्वधर्मानुष्ठानेन शोधितहृदयः । अभेदबुद्धिम् । ऐकात्म्य-  
ज्ञानं वेदान्तेभ्य उपैष्यति, अचिरादेव प्राप्स्यति । ततश्च मया यः पूर्वं  
परमानन्दप्रापको योगः समाख्यातः स च सौऽपि, अभेदबुद्धिलामात्मा-  
गनुष्ठितोऽप्यैकात्म्यज्ञानोदये सत्यमृतत्वाय, कैवल्यं दातुं कल्पते समर्थो  
भवति । यदि तु प्राक्श्रवणाच्छ्रमादिमध्ये योगो नानुष्ठितस्तदा निदि-  
ध्यासनपरिपाकरूपः स एवामृतत्वाय कल्पते । अत्राऽऽद्यपक्ष आत्मन  
उपनिषदेकगम्यत्वमुच्यते तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति । द्वितीये  
मनोमात्रगम्यत्वं मनसैवेदमाप्तव्यमिति ॥ ३९ ॥

तदेवं सङ्गफलत्यागपूर्वकं स्वधर्मानुष्ठानं बुद्धियोगः । तस्य फलं बुद्धि-  
प्रसादः, प्रसन्नायां बुद्धौ भावनायोगेऽधिक्रियत इति तं वक्तुं प्रतिजानीते  
योगमन्यमिति षड्भिः ।

योगमन्यं प्रवक्ष्यामि शृणु भूप तमुत्तमम् ।

पशौ पुत्रे तथा मित्रे शत्रौ बन्धौ सुहृज्जने ॥ ४० ॥

\*समो मां वस्तुजातेषु पश्यन्नन्तर्बहिर्स्थितम् । पशुपुत्रादिषु मामालोकयेदिति चतुर्थगतेन मामित्यनेनान्वयः । आलोकनफलं च सुखादौ समो भवेदिति । हे भूप कर्मयोगापेक्षयोत्तममन्यं योगं समवत्त्वभावनारूपं वक्ष्यामि तं त्वं शृणु । पशौ गवाश्वादौ, पुत्रे पुमपत्ये रुच्यपत्ये च, मित्रे, उपकारिणि । शत्रौ, अपकारिणि । बन्धौ विद्यायोनिसंबन्धवत्याचार्यजामात्रादौ । सुहृज्जने, उपकारमनपेक्ष्य सर्वभूतहितकारिणि साधौ जने ॥ ४० ॥

एतेषु कथं त्वामालोकयेयमित्यत आह-

बहिर्दृष्ट्या च समया हृत्स्थयाऽऽलोकयेत्पुमान् ।

सुखे दुःखे तथाऽमर्षे हर्षे भीतौ समो भवेत् ॥ ४१ ॥

मत्तोऽग्निराप इत्यादिवचनादीश्वरादुदितं सर्वमीश्वर एवेत्यभेदबुद्ध्या सैवाऽऽतिथ्यादौ समा दृष्टिर्बाह्या, हृत्स्थया च समया दृष्ट्यैते पश्वादयो मन्मनोमात्रकल्पिता मत्तो नातिरिच्यन्त इत्येवंरूपया च मां प्रत्यगात्मानं सर्वत्राऽऽलोकयेदिति । तथा च स्मृतिः-

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।

प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोरवरम् ॥ इति ।

श्रुतिश्च “आत्मैवेदं सर्वं यदयमात्मा” (छा०७।२।५।२) इति एषा वस्तुस्थितिरेपि भेददर्शनप्राबल्याद्भावनात्वेन विधीयते हृत्स्थयेत्यनेनांशेनास्याः फलमाहसुख इति । सुखे, अनुकूलवेदनीये । दुःखे प्रतिकूलवेदनीये । अमर्षे परोत्कर्षासहिष्णुत्वे । हर्षे, इष्टलाभप्रयुक्ते चित्तोल्लासे । भीतौ, आत्मोच्छेदशङ्कायाम् । एतेषु प्राप्तेषु समोऽविकृतो भवेत् ॥ ४१ ॥

रोगाप्तौ चैव भोगाप्तौ जये वाऽविजयेऽपि च ।

श्रियोऽयोगे च योगे च लाभालाभे मृता अपि ॥ ४२ ॥

रोगः शूलादिः । भोगो भोगसाधनं दिव्यवनितादिस्तयोः प्राप्तौ । जये युद्धादावुत्कर्षे । अविजये पराजये । अपिचेतिपदाभ्यां शीतोष्णमानापमानादौ । श्रियो लक्ष्म्या अयोगे नाशे, योगे प्राप्तौ, लाभे, अलाभे सति यत्नेऽपि फलालाभे । मृतौ मरणे, अपिशब्दाज्जरायां तत्कृत आन्ध्यबाधिर्यादौ प्राप्ते सति समो भवेदित्यनुषञ्जनीयम् ॥ ४२ ॥

मन्थयित्वेति । अस्थ विपश्चितोऽपि योगहीनस्येन्द्रियाणि कर्तृणि मनः  
कर्म संयम्याऽऽकुलीकृत्य बलतः स्वसामर्थ्येन ज्ञाननिष्ठातः प्रच्या-  
व्याऽऽहरन्ति विषयप्रवणं कुर्वन्ति, अतो ज्ञानसंरक्षणार्थं समाध्यभ्यासं  
न त्यजेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

एतदेवाऽऽह—

युक्तस्थानि वशे कृत्वा सर्वदा मत्परो भवेत् ।

संयतानीन्द्रियाणीह यस्यासौ कृतधीर्मतः ॥ ५७ ॥

अवहितो विजितेन्द्रियो ध्यानपरो यः स एव कृतधीर्नान्य  
इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

अजितेन्द्रियस्य विपश्चितो विनाशक्रममाह द्वाभ्याम्—

चिन्तयानस्य विषयान्सङ्गस्तेषूपजायते ।

कामः संजायते तस्मात्ततः क्रोधोऽभिवर्धते ॥ ५८ ॥

क्रोधादज्ञानसंभूतिर्विभ्रमस्तु ततः स्मृतेः ।

भ्रंशात्स्मृतेर्मतेर्ध्वंसस्तद्ध्वंसात्सोऽपि नश्यति ॥ ५९ ॥

विपश्चिदपि, इन्द्रियेण दृष्टं विषयं ध्यायंस्तस्मिन्नयं ममेष्ट इति तत्र  
सङ्गं करोति ततोऽयं मे भूयादिति तं कामयते तदर्जने प्रवृत्तस्य विभ्रे  
सति क्लुध्यति, क्रोधेन संमुह्यति मूढस्य कर्तव्येऽप्यर्थं बुद्धिर्विपर्यस्यति,  
तत अवश्यानुष्ठेयमप्यर्थं विस्मरति, ततः प्राक्साधिता प्रज्ञा नश्यति  
तस्यां नष्टायामयमपि नश्यति संसरतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

एवमजितेन्द्रियस्याजितमनसो विपश्चितो नाश उक्तः । यस्तु जिते-  
न्द्रियो जितमनाश्च स वश्यैरिन्द्रियैर्विषयांश्चरन्नपि वशीकृतमनास्त्वनेक-  
रागद्वेषराहित्यान्न सङ्गादिकं करोति, किंतु संतोषमलंबुद्धिमेव स  
सम्यग्गच्छति प्राप्नोतीत्याह—

विना द्वेषं च रागं च गोचरान्यस्तु खैश्चरेत् ।

स्वाधीनहृदयो वश्यैः संतोषं स समृच्छति ॥ ६० ॥

गोचरान्विषयान् । खैरिन्द्रियैः ॥ ६० ॥

संतोषः साधकस्यापीष्ट इत्याह—

त्रिविधस्यापि दुःखस्य संतोषे क्षेपणं भवेत् ।

प्रज्ञया संस्थितश्चायं प्रसन्नहृदयो भवेत् ॥ ६१ ॥

आधयो व्याधयश्चाऽऽध्यात्मिकं दुःखं, शीतवातादिजम्, आरिगौ-  
तिकम् । भूतप्रेतादिजम्, आधिदैविकम् । त्रिविधस्यापि संतोषे सति क्षेपणं  
हानं भवति । प्रज्ञया योक्तो(?)बुद्धियोगोऽयं साधकः ॥ ६१ ॥

\* संतोषेण प्रसन्नहृदयस्योक्तविधकर्मयोगमनुतिष्ठत उक्तभूमिलामो  
भवतीति व्यतिरेकमुखेणाऽऽह—

विना प्रसादं न मतिर्विना मत्या न भावना ।

विना तां न शमो भूप विना तेन कुतः सुखम् ॥ ६२ ॥

प्रसादस्य मतिरात्मजिज्ञासा तथा चाद्वैतभावना तथा शमोऽन्तरिन्द्रिय-  
निग्रहः । तेन संप्रज्ञा तत्सुखं नवं पक्वं पक्वतरं पक्वतमं चतुर्विधं तत्संप्रज्ञा-  
तत्सुखं तेष्वष्टः शमी विद्वान् । द्वितीयो विद्वद्वरः । तृतीयो विद्वद्वरी-  
यान् । चतुर्थो विद्वद्वरिष्ठः ॥ ६२ ॥

इन्द्रियाणां मनोदूषकत्वेन ज्ञाननाशकत्वमुपपादितमुपसंहरति—

इन्द्रियाश्वान्विचरतो विषयाननुवर्तते ।

यन्मनस्तन्मतिं हन्यादप्सु नावं मरुयथा ॥ ६३ ॥

यदिन्द्रियं कर्म मनः कर्तुं, अनुवर्तते तदिन्द्रियमस्य साधकस्य मतिं  
जातमपि ज्ञानं हन्यात्, नाशयति । तस्माद्योगिना सर्वदेन्द्रियजयः  
कर्तव्यः ॥ ६३ ॥

काकोलूकनिशावद्बुद्ध्याबुद्धयोरनुभववैषम्यमाह—

या रात्रिः सर्वजन्तूनां तस्यां निद्राति नैव सः ।

न स्वपन्ती ह ते यत्र सा रात्रिस्तस्य भूमिप ॥ ६४ ॥

यत्र विषये मूढाः स्वपन्ति तस्मिन्प्रत्यग्वस्तुनि बुद्धो नैव निद्राति,  
अपि तु जागर्त्येव । यत्र पराग्वस्तुनि मूढा जाग्रति, अपि तु नैव स्वपन्ति  
तत्र बुद्धः स्वपित्येव न जागर्तीत्यर्थः । संसारस्यात्यन्ताभावपर्यन्तमि-  
न्द्रियजयोऽभ्यसनीय इति भावः ॥ ६४ ॥

अभावे दृष्टान्तमाह—

\* एतदवतरणं न विद्यते क. ख. पुस्तकयोः ।

सरितां पतिमायान्ति वनानि सर्वतो यथा ।

आयान्ति यं तथा कामाः स नाशान्तिं कचिल्लभेत् ॥ ६५ ॥

वनानि जलानि यथा समुद्रं सर्वाणि जलानि यान्ति प्राप्नुवन्ति, एवं यं सत्यकामं सत्यसंकल्पं सर्वे कामाः प्राप्नुवन्ति, संप्रज्ञाते संप्राप्यैव यस्मिन्नसंप्रज्ञाते लीयन्ते समुद्रे जलान्तराणीव स कचिदपि काले, अशान्तिमुद्वेगं न लभेत्, न प्राप्नुयात् ॥ ६५ ॥

साधनसर्वस्वमुपसंहरति—

अतस्तानीह संरुध्य सर्वशः खानि मानवः ।

स्वस्वार्थेभ्यः प्रधावन्ति बुद्धिरस्य स्थिरा तदा ॥ ६६ ॥

यस्मादिन्द्रियजयायैकं कैवल्यमतो हेतोः खानि तानीन्द्रियाणि स्वस्वार्थेभ्यो निरुध्य यदाऽयमास्ते तदाऽस्य बुद्धिः स्थिरा भवतीति योजना । कीदृशानि खानि स्वार्थान्प्रति प्रधावन्ति धावनं कुर्वाणानि ॥ ६६ ॥

सर्वस्याध्यायस्यार्थमुपसंहरति—

ममताहंरुती त्यक्त्वा सर्वान्कामांश्च यस्त्यजेत् ।

नित्यं ज्ञानरतो भूयाज्ज्ञानान्मुक्तिं स यास्यति ॥ ६७ ॥

ममताविषयस्य रूपादेर्बाह्यवस्तुमात्रस्य त्यागो ममतात्यागः । अहं-कृतित्यागस्तद्विकाराणां दम्भदर्पादीनां त्यागः । कामांस्त्यजेदिति विद्याफलभूतदिव्यादिव्यविषयत्याग उक्तः । ज्ञानरतः सर्वदा निर्बीजसमाधिपरतया ज्ञप्तिमात्रस्वरूपब्रह्मनिष्ठः । एवंविधो यः स जीवन्मुक्तोऽपि ज्ञानान्मुक्तिं विदेहमुक्तिं यास्यति प्राप्स्यति । “ विमुक्तश्चेद्विमुच्यते ” (कठ०५।१) इति श्रुतेः । एतेन मुक्तः प्रारब्धकर्माबद्धः कंचित्कालं तिष्ठतीति दर्शितम् ॥ ६७ ॥

एतां ब्रह्मधियं भूप यो विजानाति दैवतः ।

तुरीयावस्थां प्राप्यापि शीलं मुक्तिं स ऋच्छति ॥ ६८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्गणेशगीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृतार्थ-

शास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरे-

ण्यसंवादे सांख्यसारार्थयोगो नाम

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



एतां मयोक्तां ब्रह्मधियं ब्रह्मविद्यां भूप यो विजानाति यथार्थतो  
दैवत ईश्वरानुग्रहात्स तुर्यावस्थामन्यं वयः प्राप्यापि तत्र लब्धधीर्धी-  
फलं शीलं येन केनचिदित्यादिना सूत्रग्रन्थोक्तं मुक्तिं कैवल्यं च  
अच्छति प्राप्नोति ॥ ६८ ॥

श्रीचातुर्धरमणितौ गणेशगीता-

टीकायां गणपतिभावदीपिकायाम् ।

गम्भीरप्रतप्तसदर्थदर्शिकाया-

मध्यायः स्फुटहृदयोऽयमादिमोऽभूत् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्पद्माक्षप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्द-

सूरिसूनुनीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

गणेशगीताहृदयं गणेशो जानाति नान्यः पुरुषस्तथाऽपि तत्सूत्रवृत्तौ  
उदिते कथंचित्तद्वार्तिकं विव्रियतेऽवशिष्टम् । नन्विह वृत्तौ शक्तिसूर्य-  
विष्णुसदाशिवगणेशशब्दैः क्रमादन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दाख्यानि पञ्च  
ब्रह्माण्युपन्यस्य

अहमेव महाविष्णुरहमेव सदाशिवः ।

अहमेव महाशक्तिरहमेवार्यमा प्रिय ॥

इति पञ्चानामपि तुरीयातीतानन्दमात्रस्वरूपत्वमुक्तम् । तथा सूत्रे तु-

योगो यः सत्यलोकस्य न स योगो मतो मम ।

शैवस्य योगो नो योगो वैष्णवस्य पदस्य यः ॥

न योगो भूप सूर्यत्वमित्याद्यानां चतुर्णां श्रेष्ठत्वं निषिद्धं नह्येकस्यैव  
सत्यलोकस्यान्याख्या विराड्भूपाऽस्ति फलस्य तुच्छत्वमानन्दैकरसत्वेन  
परमार्थसत्यत्वं च परस्परविरुद्धं संभवति, अतः पूर्वापरविरोधादव्या-  
ख्येयमिदं वार्तिकमिति चेन्नैष दोषः । घनवत्करकावच्च स्वाभाविकाग-  
न्तुकैर्द्रवत्वघनत्ववच्चैकस्यैव विद्याविद्यावस्थाभेदेनोभयरूपत्वोपपत्तेः ।  
तथा हि । अन्नादिचतुष्टयं व्यस्तमुपासका अन्धगजन्यायेनैकैकं व्युदस्य

कृत्स्नं ब्रह्मेति ध्यायन्तो न कृत्स्नपुरुषार्थभाजो भवन्तीति तेषां श्रैष्ठ्यं निषिद्धं योगो यः सत्यलोकस्येत्यादिना । तथा हिं समुच्चये द्वितीयपादान्ते प्रादेशमात्रो वैश्वानरः परमात्मेति सिद्धम् । तत्र कथमतिमात्रस्य परमात्मनः प्रादेशमात्रत्वमिति शङ्कायां संपत्तेरिति जैमिनिरिति सूत्रेण मूर्धादिचिबुकान्तप्रदेशे प्रादेशमात्रे त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्य संपाद्योपास्यमानत्वात्तस्यापि प्रादेशमात्रत्वम् । अस्या उपासनाया दृष्टं फलं जैमिनिर्विकल्पमननादितिसूत्रेण कायव्यूहाद्यैश्वर्यमुक्तम् । देहान्ते च, अर्चिरादिमार्गेण मूर्धन्यनाड्या कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिः । तदेव नित्यं परब्रह्मेति मोहात्केचिन्मन्यन्ते, तत्सूत्रितं परं जैमिनिर्मुख्यत्वादिति । तथा प्रादेशमात्रे हृदयदर्पणे वैश्वानरस्य त्रैकालिकसकलवस्त्वात्मत्वमभिव्यक्ततरं गृह्यते । “ इदं सर्वं यद्यमात्मेति यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते ” ( बृ० २।४।५ ) इति श्रुतेः । अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्य इति सूत्रेण परमेश्वरस्याप्यौपाधिकं प्रादेशमात्रत्वमुक्तम् । अस्यापि दृष्टं फलं सर्वज्ञत्वम् । अदृष्टफलं तत्पूर्ववदेव सत्यलोकप्राप्तिः । तथा, अनुस्मृते चान(?) व्यावहारिकम् । अभावं बादरिरिति सूत्रेण प्रादेशमात्रहृदयमधिष्ठितेन मनसाऽनुस्मर्यमाणत्वात्परमात्मनोऽपि प्रादेशमात्रत्वमुक्तम् । अस्य दृष्टं फलं मानसिकमेवैश्वर्यान्नित्यम् । अदृष्टं तु कार्यप्राप्तिरेव कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेरितिसूत्रणात् । तथाऽऽमनन्ति चैनमस्मिन्निति प्रादेशमात्रे भूघ्राणसंधावनन्तस्याव्यक्तस्याऽऽत्मन उपासनं जाबाला विदधति । सोऽविमुक्त उपास्य इति कतमच्चास्य स्थानमिति प्रश्नपूर्वकं भुवोर्घ्राणस्य च यः संधिरित्याध्यात्मिकाविमुक्तस्थानस्य दर्शितत्वात् । अत उक्तं परमात्मनोऽपि प्रादेशमात्रत्वमत्रोक्तमिष्यत एवं भावादिति सूत्रेण यथेन्द्रनान्युदस्याग्नेर्द्गधू ( गधू ) त्वप्रकाशकत्वे सत्ये तैत उत्क्रान्तस्यानुपाख्यत्वं च सत्यमिति भेदाभेदादी मन्यते, त एते चत्वारोऽप्यन्धगजवदकृत्स्नब्रह्मवेदित्वात्कार्यं ब्रह्मैव गच्छन्ति । तथाऽत्रापि जैमिनिबादरी अत्यन्तमूढौ द्वैतबाधाद्वैतदर्शनयोरभावात् । अतस्तयोराद्यः कल्पान्तरे व्यष्टिदेवताभावं द्वितीयः समष्टिदेवताभावं च प्राप्नोति । इतरौ त्वर्धबुद्धौ सत्य-

१ क. ख. 'स्त्रं च स्वेति' । २ ख. 'हि द्वि' । ३ ख. 'शङ्कामास इति जै' ।  
 ४ क. फलभावजै' । ५ क. ख. 'नद' । ६ क. तदुक्ता' । ७ क. ख. 'पास्यत्वं' । ८ क. 'दितत्ता' ।  
 ९ घ. 'रौ वृद्ध' ।

लोक उत्पन्नसम्यग्दर्शनौ कार्यान्ते ब्रह्मणा सह परब्रह्मभावं भजतः ।  
 अत एतेषां मुख्यकैवल्यप्रापकत्वाद्यो योगः स न मुख्यो योग इति सूत्रि-  
 तम् । ये तु द्वैतबाधपूर्वकमद्वैतमानन्दं प्रविष्टास्तेषां कृत्स्नमेकरर एव ।  
 “स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वाऽरेऽयमात्माऽन-  
 न्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः” (बृ० ४।५।१३) इति श्रुतेः । तस्मादावि-  
 द्यके चतुर्णामन्नप्राणमनोविज्ञानानां भेदेऽपि परमार्थदृष्ट्यैकरस्यमुपपद्यत  
 इति न सूत्रवृत्त्योर्विरोधोऽस्ति । तस्मात्तद्वार्तिकरूप उत्तरो ग्रन्थोऽवश्यं  
 व्याख्येय इति सिद्धम् । नन्वेवमप्येतद्विस्तरत्वात्तद्याख्यानेनैतद्वृतार्थमिति  
 किमनेन पिष्टपेषणेनेति चेन्न । बोध्यभेदान्नानाशाख्योऽ(?)ग्रिहोत्रवदस्या-  
 प्यवश्यव्याख्येयत्वात् । अधिकार्थत्वाच्च न पिष्टपेषणन्यायोऽस्ति तस्माद्या-  
 ख्येयमेवैतत् । तत्राऽऽद्या कृत्स्नद्वैतोपमर्देनैव सिध्यति । द्वितीया तु द्वैताल-  
 म्बनेनेत्यनयोर्विरोधात्किमहं ज्ञानाधिकार्युत कर्माधिकारीत्यात्मनि संदि-  
 हानो वरेण्य उवाच-

ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठा द्वयं प्रोक्तं त्वया विभो ।

अवधार्य वदैकं मे निःश्रेयसकरं नु किम् ॥ १ ॥

हे विभो हे व्यापक व्यापकत्वादेव सर्वप्राणिहृदयाभिज्ञ यद्यपि निष्ठा-  
 द्वयं त्वयोक्तं तदुभयमपि प्रशस्तमेव तथाऽपि मे मम, अधिकारमवधार्य  
 निश्चित्य यत्प्रशस्ततरं निश्चितं श्रेयो वा निःश्रेयसं निःपूर्वश्रेयःशब्दोऽ-  
 च्छप्रत्ययान्तो निपात्यते मम यद्विस्ततरं तद्वदेत्यर्थः । नु निश्चितम् । किं-  
 शब्दः प्रश्नार्थः, किं निश्चितं श्रेयस्करं तदवधार्य वदेति योजना ॥ १ ॥

एवं प्रार्थितो गजानन उवाच-

अस्मिंश्चराचरे स्थित्यौ पुरोक्ते द्वे मया प्रिय ।

सांख्यानां बुद्धियोगेन वैथयोगेन कर्मिणाम् ॥ २ ॥

अस्मिन्, लोके, ज्ञानकर्माधिकारिणं द्विविधं जनमुद्दिश्य द्वे स्थित्या-  
 वधिकारभेदेन तिष्ठत्यास्मिन्निति व्युत्पत्त्या स्थितिशब्दिते निष्ठास्थाने  
 ज्ञानभूमिकर्मभूमिरूपे मया वेदकर्त्रा पुरा, कल्पादौ जनहिताय प्रोक्ते ते

च स्थिती चराचरे योग्यतया कर्मस्थितिश्च राजन्यत्वेन कर्मफलस्या-  
नित्यत्वात् । तथा च श्रुतिः—“तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एव-  
मेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते” (छा०८।१।६) इति । ज्ञानस्थितिस्त्व-  
चराऽजन्यत्वात् । तत्फलस्य कैवल्यस्याज्ञानापगममात्रसिद्धत्वेन चरात्वा-  
योगात् । स्थित्याविति पूर्वसवर्णदीर्घाभाव आर्षः । प्रियेत्यनेन त्वं तु ज्ञान-  
स्थितियोग्योऽसीति सूचयति । यथोक्तं भगवता ‘प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ-  
महं स च मम प्रियः’ इति । द्वे ते स्थिती विभजत उत्तरार्धेन—सांख्याना-  
मिति । सम्यक्ख्यायन्ते विषयविषयिविभागेन तत्त्वानि प्रकथ्यन्ते यैस्ते  
सांख्याः प्रकृतिपुरुषविभागज्ञाः । तेषां ज्ञानयोगेन जीवब्रह्माभेदज्ञानेन यो  
योगस्तादात्म्यसंबधोऽहं ब्रह्मास्मीत्यादिशास्त्रसिद्धस्तेन निष्ठोक्ता । ज्ञाने  
प्रत्याक्वचितिरूपे तिष्ठति नितरां यस्यां सा ज्ञानमेव कैवल्यसाधनमि-  
त्यर्थः । ननु सांख्या गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति तत्त्वपुरुषान्यता-  
ज्ञानमेव कैवल्यसाधनं मत्वा ब्रह्मात्म्यैक्यज्ञानं नावेक्षन्ते तत्कथं ज्ञानयो-  
गेन सांख्यानां ज्ञानतिष्ठेत्युच्यते । अत्र ब्रूमः—यावत्प्रपञ्चे परमार्थता-  
बुद्धिः पुरुषभेदबुद्धिश्चास्ति तावद्ब्रह्मणोऽपि कैवल्यं नास्ति । प्रपञ्च-  
सत्यत्ववासिताया अनाशात् । अत एव सर्वतैर्धिकाः सवासनं मिथ्या-  
ज्ञानमेव संसारमूलमिच्छन्ति । तस्मादद्वैतनिष्ठैव ज्ञाननिष्ठा । सांख्यास्तु  
ज्ञानप्रतिपत्त्युपायत्वं पदार्थसाक्षात्कार उपेयत्वमुपचाराद्वदन्ति सेयमचरा  
निष्ठा । वैधयोगेन कर्मिणामिति । विधेरिमे वैधाः । इदमिदसाधनमिद-  
मनिदसाधनमित्यज्ञातार्थज्ञापनपरं शास्त्रं विधिः । तस्य किङ्करा वैधाः ।  
यथा राजांशोलङ्घने महद्भयं पश्यन्तो राजदासा इव विहिताकरणा-  
न्निषिद्धाचरणाच्चाऽऽत्मनो भयं पश्यन्तो वैधास्तेषां योगोऽनेन स वैधयो-  
गः कर्मानुष्ठानं तेन कर्मिणां कर्माधिकारवतां जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नी-  
नादधीतेतिशास्त्राधिकारिणां वैधयोगेन कर्मनिष्ठा प्रोक्तेत्यर्थः । अशो-  
धितत्वंपदार्थकोशपञ्चाकासंहत आत्मेति मन्यमानः कर्माधिकारी । शोधि-  
तत्वंपदार्थस्तु निरस्तसमस्तभेदभावो ब्रह्मात्मैक्यविचारे वेदान्तार्थश्रव-  
णमनननिदिध्यासनेऽधिक्रियत इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं तर्हि ज्ञाननिष्ठैव साध्या किं विहितैः कर्मभिरित्याशङ्क्याऽऽह—

१ ख. ‘राशरत्वा’ । २ क. ख. ‘स्ति ज्ञानब्रह्म’ । ३ क. ख. ‘ज्ञातज्ञा’ । ४ क. ख. ‘जाज्ञा-  
लङ्घ’ । ५ क. ख. ‘र्थस्य को’ । ६ क. ख. ‘भानत्र’ । ७ क. घ. ‘कर्मण इत्या’ ।

अनारम्भेण वैधानां निष्क्रियः पुरुषो भवेत् ।

न सिद्धिं याति संत्यागात्केवलात्कर्मणो नृप ॥ ३ ॥

वैधानां विधितः प्राप्तानाम् ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिराजवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।

इत्यादिशास्त्रेण वर्णाश्रमसंबन्धिनियतानां कर्मणाभनारम्भ आरम्भ-  
स्याभावेऽकरणे निमित्ते सति पुरुषो निष्क्रियो मुक्तो न भवेत् । पात-  
ञ्जला हि कायवाङ्मनसां सर्ववृत्तिनिरोधेनैव कैवल्यमिच्छन्ति तन्नि-  
षिध्यतेऽनेनैतदेव ब्रूयति-न सिद्धिमिति । केवलाद्ब्रह्मात्म्यैक्यज्ञानरहि-  
तात्कर्मणः संत्यागात्सुषुप्ताविव सर्वप्रत्ययहानात्सिद्धिं मोक्षं न याति ।  
तस्माच्छास्त्रोक्तधर्मानुष्ठानपूर्विकैव ज्ञानसिद्धिरिति । एतच्च 'चित्त-  
शुद्धिश्च महती' इत्यत्र वृत्तिग्रन्थ उपपादितं तत एवानुसंधेयम् ॥ ३ ॥

निष्कामस्वधर्मानुष्ठानफलभूतचित्तशुद्ध्यभावे निःशेषवाक्कायमनसां  
वृत्तिनिरोधोऽपि न संभवतीत्याशयेनाऽऽह-

कदाचिदक्रियः कोऽपि क्षणं नैवावतिष्ठते ।

अस्वतन्त्रः प्रकृतिजैर्गुणैः कर्म च कार्यते ॥ ४ ॥

अशोधितचित्तः पुरुषः कदाचिदपि कालत्रयेऽपि, क्षणं क्षण-  
मात्रमपि, अक्रियः सकलकायवाङ्मनोव्यापाराद्विरतो नैवावतिष्ठते  
नावस्थानुमर्हति, कुत इत्यत आह-अस्वतन्त्र इति । प्रकृतिः प्राग्म-  
णीयपुण्यापुण्यवासनारूपसंस्कारराशिः । ये ततो जाता अस्मि-  
न्मन्याविर्भूता गुणा उच्चावचभावविषया रागद्वेषादयस्तैर्वशीकृतत्वाद्-  
स्वतन्त्रोऽयं पुरुषो यथापूर्वसंस्कारं कर्म कार्यते, चकारोऽवधारणार्थं ।  
वासनोत्था प्रवृत्तिर्दुर्वारति भावः । यतो गुणैः कर्माणि कार्यत एवेति  
योजना ॥ ४ ॥

ननु स्वाधीन एव स्वकायवाङ्मनसां व्यापारस्य निरोधः सर्वेषां  
सुकर इत्याशङ्क्याऽऽह-

कर्मकारीन्द्रियग्रामं नियम्याऽऽस्ते स्मरन्पुमान् ।

तद्गोचरान्मन्दचित्तो धिगाचारः स भाष्यते ॥ ५ ॥

कथं समो भवेदित्यत आह—

समो मां वस्तुजातेषु पश्यन्नन्तर्बहिःस्थितम् ।

सूर्ये सोमे जले वह्नौ शिवे शक्तौ तथाऽनिले ॥ ४३ ॥

द्विजे ह्रदे महानद्यां तीर्थे क्षेत्रेऽघनाशिनि ।

विष्णौ च सर्वदेवेषु तथा यक्षोरगेषु च ॥ ४४ ॥

गन्धर्वेषु मनुष्येषु तथा तिर्यग्भूषेषु च ।

सततं मां हि यः पश्येत्सोऽयं योगविदुच्यते ॥ ४५ ॥

अन्तःस्थितं मनोमात्रया स्वस्वमनोरथसुखदुःखरूपेण बहिःस्थितं सार्वभौतिकरूपेण च सन्तं सर्वेषु वस्तुसामान्येषु सद्रूपेणानुस्यूतस्तं पश्यन्समो भवेत् । वस्तुजातान्येव कण्ठतः पठति । यथा काश्चनर्मयीषु सुरनरतिर्यक्प्रतिमासु काश्चनत्वमविशिष्टमेवं सूर्यसोमशत्रुमित्रश्व-सूकरादिषु सर्वोपादानभूतं ब्रह्म समानमित्येवंरूपा याऽनवच्छिन्ना बुद्धिः स एव भावनायोगस्तद्वान्बुद्धियोगविदपेक्षया श्रेष्ठो योगविदित्यर्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

एवं यस्य यद्विहितं कर्मेत्यादिना श्लोकपञ्चकेन बुद्धिविशेषप्रधानः शाक्तो योग उक्तः । तथा योगमन्यं प्रवक्ष्यामीत्यादिना सर्वं विष्णु-मयं जगदित्येवमैकात्म्यभावनारूपो वैष्णवो द्वितीयो योग उक्तः । इदानीं तृतीयं सौरयोगमात्मानात्मविवेकरूपं कर्मसमुच्चितं द्वाभ्यां विधत्ते—

संपरावृत्य स्वार्थेभ्य इन्द्रियाणि विवेकतः ॥

सर्वत्र संयता बुद्धिः स योगो भूप मे मतः ॥ ४६ ॥

इन्द्रियाणि, श्रोत्रादीनि पञ्च, स्वार्थेभ्यः प्रातिस्विकेभ्यः स्वस्वविषयेभ्यः शब्दादिभ्यो बाह्येभ्यः परावृत्य विपरतिप्रवृत्त्या प्रत्यक्प्रवणानि कृत्वा, विवेकतः । चतुर्थर्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः । आत्मानात्मविवेकार्थं सर्वत्र यस्मिन्कस्मिंश्चिदेकत्र विषये संयता, संयमवती बुद्धिर्भवति स एव धीसंयमरूपो योगो हे भूप वरेण्य मे मम मतः श्रेयःसाधनत्वेनेति शेषः । सर्वत्रेति सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासावित्यत्र यथैकस्मिन्प्रयोग एक एव कामो न तु सर्वेऽन्यानर्थक्यापत्तेरेवमेकस्य संयमस्यैक एव

विषयो न तु बुगपत्सर्वः सूर्ये संयमान्दुवनज्ञानं चन्द्रे ताराग्रहज्ञानं प्रत्य-  
यस्य परिचितज्ञानमिति विषयभेदेन संयमनस्य नानात्वस्मरणात् ।  
संयमश्चैकस्मिन्विषये धारणाध्यानसमाधित्रयं, तथा च पारमर्षाणि  
सूत्राणि देशबन्धश्चित्तस्य धारणा, तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानं, तदेवार्थमा-  
त्रनिर्मासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः, त्रयमेकत्र संयमः । इति ॥ ४६ ॥

आत्मानात्मविवेकेन या बुद्धिर्देवयोगतः ।

स्वधर्मासक्तचित्तस्य तयोगो योग उच्यते ॥ ४७ ॥

आत्मा पुरुषः, अनात्मा बुद्धिसत्त्वम् । अनयोर्विवेकः पृथक्त्वज्ञानं  
तेन रूपेण या बुद्धिः परिणता सर्वधर्मजादृष्टयोगात् । तद्योगस्तस्याः  
प्राप्तिर्या स एव योगः पूर्वयोगद्वयापेक्षया मुख्यो योग उच्यते ।  
स्वधर्मासक्तचित्तस्येत्यनेनास्य वर्णाश्रमधर्मसमुच्चयो विधीयते । न हि  
भ्रष्टाचारस्य योगानुष्ठानं संभवतीत्यर्थः । अस्य फलं सूत्रितं योगशास्त्रे-  
सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रात्सर्वज्ञातृत्वं सर्वभावाधिष्ठातृत्वं च ॥ ४७ ॥

एवं सौरं तृतीयविवेकयोगमुक्त्वा शैवं चतुर्थमसंप्रज्ञातयोगमाह-  
धर्माधर्मौ जहातीह तथा त्यक्त उभावपि ।

अतो योगाय युज्जीत योगो वैधेषु कौशलम् ॥ ४८ ॥

तथा विवेकबुद्ध्या सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिसंज्ञया त्यक्तो रहितो  
योग्यसंप्रज्ञातसमाधिमुपसृतस्तन्माहात्म्याद्धर्माधर्मौ भवबीजभूतौ जहाति  
त्यजति, इहेत्यस्मिन्नैव लोके । उभावपीति पापवत्पुण्यस्यापि बन्ध-  
कत्वेन हेयत्वात् । यस्मादीदृशं योगस्य माहात्म्यमतो हेतोर्योगाय  
निर्बीजयोगलाभाय युज्जीत, योगमनुतिष्ठेत् । यतोऽयमसंप्रज्ञातो योगो  
वैधेषु पुरुषकृतिसाध्येषु वेदविहितेषु कौशलं महच्चातुर्यं प्रज्ञात्यागान्तं  
पुरुषकृतिसाध्यम् । यथोक्तं येन त्यजसि तं त्यजेति, निःसङ्गः प्रज्ञया  
भवेदिति च ॥ ४८ ॥

अस्य फलमाह-

धर्माधर्मफले त्यक्त्वा मनीषी विजितेन्द्रियः ।

जनिबन्धविनिर्मुक्तः स्थानं संयात्यनामयम् ॥ ४९ ॥

धर्माधर्मफले ऊर्ध्वाधोगती त्यक्त्वा मनीषी मनोरोधनशीलो यतो  
जितेन्द्रियो विषयेभ्यः प्रत्याहृतकरण इति विशेषणाभ्यां तत्पुरुषख्याते-

गुणवैतुष्यम् । दृष्टानुश्रविकविषयवितुष्यस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्य-  
मिति सूत्रद्वयोक्तपरापरवैराग्यसंप्रतिपन्नत्वमुक्तम् । जनिर्जन्म तदेव  
बन्धः स्वेन निर्मुक्तः । स्थानं यतः पुनर्नाऽऽवर्तते तं लोकं संयाति  
सम्यक्प्राप्नोति । आमयः संसारयोगस्तद्रहितमनामयम् । यत्स्थानं  
प्रकृत्योक्तं “ दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ” इत्यादि ।  
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यत इति । पुरुषमित्यस्य कार्य-  
ब्रह्मणा सह मुच्यत इत्यर्थः । तच्चोदाहृतम्—परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे  
इति ॥ ४९ ॥

ननु परं वैराग्यं प्रकृत्योक्तं योगभाष्ये—एतस्यैव हि नान्तरीयकं फलं  
कैवल्यमिति । यथा निरोधसंस्कारप्राबल्येन व्युत्थानसंस्काराणा-  
मात्यन्तिके प्रलये सति बोद्धव्याभावादबुद्धेरपि दग्धेन्धनानलवदुच्छे-  
दोऽवश्यंभावीति निष्प्रत्यूहकैवल्यमात्मनो निरोधसमाधिर्नैव सिध्य-  
तीति पातञ्जलाः प्राहुः । तत्कथं स्थानं संयात्यनामयमित्येतदसंप्रज्ञात-  
फलमित्युच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

यदा ह्यज्ञानकालुष्यं जन्तोर्बुद्धिः क्रमिष्यति ।

तदाऽसौ याति वैराग्यं वेदवाक्यादिषु क्रमात् ॥ ५० ॥

अस्ति खल्वज्ञानसमुद्रोऽतीतानन्तकोटिजन्मसंभृतवासनासीकरमय-  
स्तस्यैकस्तरङ्गो बुद्धिर्नित्यमाविर्भावतिरोभावस्वभावा सा कथमज्ञाने  
विश्वरूपे विलसत्यात्यन्तिकमुच्छेदं लभतां, सा हि त्रिगुणात्मकस्याज्ञा-  
नस्य प्रकाशकतया सात्त्विकः परिणामो रजस्तमोमलकलुषितः स चासं-  
प्रज्ञातसमाध्यन्तेन कर्मयोगेण निर्धूतकलुषा सती कैतकरजोवत्क्रमेणाज्ञा-  
नमपनयन्ती स्वयमपि विलीयते । तदिदमुक्तं यदा जन्तोर्बुद्धिरज्ञानकालुष्यं  
क्रमिष्यतीति । हिशब्दो ज्ञानादेव तु कैवल्यं, तरति शोकमात्मवित्  
( छा० ७१३ ) इति कैवल्यस्य ज्ञानैकसाध्यस्य प्रसिद्धिद्योतनार्थः । यद्यपि  
“अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्” इति योगस्याऽऽत्मदर्शनसा-  
धनत्वमस्ति तथाऽपि योगजं दर्शनं धर्म एव । न तु तत् “अहं ब्रह्मास्मि”  
“अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि” ( बृ० २।५।१९ ) इत्यादिवाक्यजनितवृत्तिरूपं  
तेन विना च कैवल्यासंभवात् । युक्तमुक्तं तथा त्यक्तः स्थानं यातीति ।



योगेन त्यक्तधियः क्रममुक्तिस्थानप्राप्तिरिति । यदाऽनेकं कर्मैकजन्मन्या-  
रभेत तदा प्राग्भवीयवासनानामभावात्प्रतिपन्नजन्मोद्भूतवासनानां च  
निरोधाभ्यासेनोच्छेदात्कैवल्यं संभाव्येत । न चैतद्युक्तम् । कस्य  
कर्मणोऽनेकजन्मारम्भकत्वदर्शनात् । तथा ह्येकं मानुषं जन्म कर्मार्जन-  
स्थानम् । अनन्तानि च भोगस्थानानि दृश्यन्ते तस्माद्युक्तोऽयमैकम-  
विकन्यायः । ननु केनोपायेन बुद्धिरज्ञानं क्रमिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह  
तदेति । वेदवाक्यानि तत्त्वंपदार्थशोधकानि “ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य  
ज्ञानमयं तपस्तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ” ( मु० १।१।९ ) “ य एष  
विज्ञानमयः प्राणेषु तृद्यन्तर्ज्योतिःपुरुषः ” इत्यादीन्यवान्तरवाक्याणि  
तत्त्वमसीत्यादीनि महावाक्यानि तेषां श्रवणमुपक्रमोपसंहारैक्यरूप्या-  
दिलिङ्गैस्तात्पर्यावधारणं, तेन प्रमाणगतासंभावनानिवृत्तिः । आदिप-  
दान्मननं श्रुतस्यार्थस्य युक्तिभिरनुचिन्तनं तेन प्रमेयगतासंभावनानि-  
वृत्तिः । निदिध्यासनं विजातीयप्रत्ययतिरस्कारपूर्वकं सजातीयप्रत्ययप्रवा-  
हीकरणं तेभ्यः शमादियुक्तस्य क्रमात्सोपानारोहण्यायेनोत्तरामुत्तरां  
भूमिमारोहतः साक्षात्कृतात्मयाथात्म्यस्य जन्तोः पुरुषस्याधिकारिणस्तेषु  
श्रवणादिषु तीर्णपारस्य नौकायामिव वैराग्यं जायते । यदैव वैराग्यं  
भविष्यति तदैव बुद्धेरज्ञानकालुष्यं गतमिति मन्तव्यम् । अत्र क्रमादि-  
त्यनेन श्रौतानुज्ञात्रनुज्ञा अविकल्पैरिति श्रुत्यन्तरप्रासिद्धाश्चतस्रो दृष्टय  
उक्तास्तासामयं संग्रहः-

अध्यारोपे जगच्चित्कनकपरिणतिः सर्वमात्मेतिवादा-

द्युक्तैतच्चिद्विवर्तः स्रगुरगसदृशः स्वप्नमायेतिवादात् ।

श्रुत्यैतच्चिद्विकल्पो गगनतलसमो नेह नानेतिवादा-

त्यत्यक्चिच्चिद्विकल्पा जयति धुतधियो वाङ्मनोतीतवादात् ॥ इति ।

ननु इदं सर्वं यदयमात्मा, इन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव  
मिथ्यादर्शनम् । नेह नानाऽस्ति किं च न ( बृ० ४।४।१९ ) “ यतो  
वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ” ( तै० २।४।१ ) इति पर-  
स्परविरुद्धार्थानां श्रुतीनां कथं तत्त्वावेदकत्वलक्षणं प्रमाणत्वमित्याश-  
ङ्क्यानृतस्यैव सतो विनेयबुद्ध्यवतारार्थं परिणामादिदृष्टयः प्रदर्श्यन्त  
इत्यपि श्लोकेन संगृह्यतेऽपि यं वाङ्मनसयोर्बाहिल्लोकाकारं परविदविकल्पं

कलयति । तैत्तिरीये “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्” ( २।१।१ ) इति । ब्रह्म तद्गूहनकरत्वेन गुहाख्यं परमं व्योम चोपन्यस्तम् । तत्र ब्रह्मणः सत्यज्ञानरूपत्वमनन्तत्वं प्रकाशयता मन्त्रवर्णेन तदन्यस्य व्योम्नोऽर्थादसत्याज्ञानरूपत्वं सान्तत्वं च दर्शितम् । तथा तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ( तै० २।१।१ ) इत्यत्राऽऽत्मन आकाशादिस्रष्टुर्ब्रह्मव्योमपरामर्शिभ्यां तदेतच्छब्दाभ्यां सामानाधिकरण्यात्तस्य सत्यासत्यशाबल्यं गम्यते, स च सत्यांशप्राधान्यादीशः । असत्यांशप्राधान्याज्जीवः । लोके चामतिपूर्विका रज्जूरगादिसृष्टिर्मतिपूर्विका च मनोराज्यसृष्टिश्चानृतैव दृष्टा, ते उभे अत्र क्रमेण दृश्येते । “आत्मन आकाशः संभूत इति, सोऽकामयत बहुः स्या प्रजायेय” ( तै० २।६।१ ) इत्यादि च । तदिदमुक्तं पशुस्तंभोलोकं पशुपतिमनोराज्यमचलमिति । अचलमिति विशेषणात्पशुपतिमनोराज्यस्य कल्पितत्वेनानृतत्वेऽपि स्वप्रराज्यवत्प्रतीतिपुष्कलार्थक्रियाकारित्वमुक्तम् । यदा हि सावग्रहैश्वर्यैः सौभरिभरद्वाजकुम्भोद्भवप्रभृतिभिः कल्पितानामर्थानां पुष्कलार्थक्रियाकारित्वं दृश्यते पुराणागमादिषु तदा किं वक्तव्यं निरवग्रहैश्वर्येण पशुपतिना कल्पिते तथात्वमिति । अत एव कर्मोपास्तिकाण्डयोः साधनफलादिप्रतिपादके ज्ञानकाण्डे चाऽऽत्मनः सर्वज्ञत्वं सर्वकर्तृत्वं सर्वात्मत्वं सर्वभोक्तृत्वं चेत्यादिप्रतिपादकश्च वेदो यावदज्ञानं निरङ्कुशप्रामाण्यमश्नुते । दृष्टश्चानृतस्याप्यज्ञानस्य तद्विशिष्टस्य वा पुरुषस्य सहकार्यात्मानपेक्षस्यैव स्वप्रमनोराज्ययोः सर्वकारकीभावो न तु सत्यस्य कस्यचित् । न हि सत्या बीजशक्तिः प्रकृत्यन्तरमन्तरेण वटीभवितुमर्हति नापि सत्यं कनकं निमित्तान्तरमन्तरेण कुण्डलीभवितुमर्हति । श्रुतिस्तु ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ ( तै० २।७।१ ) इत्यज्ञानमात्रस्य “सोऽकामयत” ( तै० २।६।१ ) इत्यत्र तद्विशिष्टस्याऽऽनन्दमयस्य चैकाकिनं एव सर्वकारकीभावं दर्शयति । नन्वेवं पशुपशुपत्योरत्रावैशिष्ट्यं वास्तवमित्याशङ्क्य तयोः स्वसृष्टेन जगता सह परस्मिन्सत्येऽध्यासं तस्मिंश्च त्रयेऽधिष्ठानसत्त्वाध्यासं च श्रुतिराह “सत्यं चानृतं च सत्यमभवद्यदिदं किंच” ( छा० ७।२।१ ) इति । ततश्च सत्येऽध्यस्तत्वात्सत्यस्य

१ क. ख. तद्गूहं । २ घ. ‘स्तलौभौक्यं प’ । ३ घ. ‘नानृतं’ । ४ घ. ‘दको ज्ञानं काण्डे’ । ५ घ. ‘बकुंशं प्रा’ । ६ क. ख. ‘कृत्यादूरम’ । ७ घ. ‘न ऐक्यय’ । ८ क. ख. नत्वेवं । ९ क. ‘रत्नानि वै’ । ख. ‘रत्नानि वै’ । १० क. ‘त्यसावि’ ।

विवर्तञ्जयमप्यज्ञानमूलकत्वादज्ञानस्य चतुर्थस्य स्वरूपेणासतो विकल्पमात्रं शब्दजं तदित्याह विवर्तः सत्यस्य त्रयमपि विकल्पस्तदसतः । त्रयमपि विवर्तञ्जयमपि विकल्प इति च यं ज्यम् । अत एव त्रितयस्य कारणस्याप्यसतः सुकृतापरनाम्नो रसावशेषो बोधो दृश्यते, यद्वैतत्सुकृतं रसो वै स इति । स च बोधो रसावशेषोऽसंप्रज्ञातेऽनुभूयते । अतो व्युत्थितो योगी विश्वं प्रत्यगभिन्नं रसाकारं पश्यति तदुभयं यदा ह्यपैति, अहमन्नमिति च श्रुत्या प्रदर्श्यते तद्विदुक्तम्-असद्वाधादित्यादिना । अत एव विष्णुपुराणे जगतो ज्ञानस्वरूपत्वं स्मर्यते-

ज्ञानस्वरूपं ये चाऽऽहुर्जगदेतद्विचक्षणाः ।

अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥ इति ।

सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यमपि तन्मात्रार्थं सद्भिनेयभेदात्प्रतिपत्तिक्रमभेदाद्वा । अभेदे बाधायामव्यतिरेके वा, उच्यते । तथा हि तार्किकः कार्यकारणयोर्गवाश्ववन्देदमिच्छति तद्वाधायाऽऽद्यः पक्षः । आरम्भवादिनिरासः कारणैक्यसिद्ध्युपयोग्यात्मानात्मनोरितरेतराध्यासादनात्मवदात्मनोऽध्यस्तत्वाविशेषादनृत इति जगद्भ्रमाधिष्ठानं शून्यमेव शिष्यत इति माध्यमिकपक्षनिरासाय द्वितीयः पक्षः शून्यवादनिरासः कारणसत्तासाधकः । निरधिष्ठानकभ्रमासंभवान्निरवधिकबाधायोगाच्चास्ति किञ्चित्तयोरालम्बनं सत्यमिति यद्वजतं सा शुक्तिरेव य उरगः स रज्जुरेवेतिवद्यद्विश्वं तद्वह्नौवेति बाधायां सामानाधिकरण्यं सांख्याः कार्यकारणयोः समसत्ताकयोरभेदमिच्छन्ति तन्निरासायाव्यतिरेकपक्षस्तृतीयः । परिणामवादनिरासार्थं यत्कारणं तदेव कार्यं कारणव्यतिरिक्तं कार्यं नास्ति व्योम्न इव पृथक्तलत्वम् । अवाङ्मुखीभूतमाहेन्द्रमणिमयकटाहाकारत्वमित्यर्थः । यद्वा मन्दाधिकारिण ऐकात्म्ये बुद्धचवतारणार्थं परिणामवादमाश्रित्य सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यमभेदे तस्यैव पक्षस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वबोधार्थं विवर्तवादमाश्रित्य तदेव बाधायामिष्टं तस्यैव पक्षतरस्य प्रपञ्चात्यन्ताभावबोधार्थं विकल्पवादमाश्रित्याव्यतिरेके तदिष्टं विकल्पस्याप्यगमादविकल्पे परं महीयते । तदुक्तं संक्षेपशारीरके परिणामाद्युपपादनान्ते-

अथ शब्दसूचितमुमुक्षुरिमं खलु दृष्टिभेदमुदितक्रमतः ।

उपदौकते विगलिताखिलधीरवतिष्ठते निजमहिमन्नि ततः ॥५०॥

एवं श्रवणादिना नष्टाज्ञानस्यानुष्ठेयं महायोगमाह—

त्रयीविप्रतिपन्नस्य स्थाणुत्वं यास्यते यदा ।

परात्मन्यचला बुद्धिस्तदाऽसौ योगमाप्नुयात् ॥ ५१ ॥

वासिष्ठे—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।

विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।

पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥

इति सप्त ज्ञानभूमयः स्मर्यन्ते, तास्वाद्या साधनंचतुष्टयसंपत्तिः ।  
अवगमननाख्यात्मिका द्वितीया निदिध्यासनं तृतीया । एतावांस्त्रया-  
त्मिकायास्त्रया विधेयो विषयः स त्रयीशब्देनोच्यते, तां त्रयीं  
विशेषतः प्रतिपन्नस्य प्राप्तस्य जितभूमित्रयस्य सत्त्वापत्त्याख्या चतुर्थी  
भूमिर्निरोधसमाधेः प्रागेवोपतिष्ठते, तस्यान्तः पञ्चसंप्रज्ञातफलभूतास्तु  
सिद्धिष्वसंसक्तस्य वशीकारसंज्ञाख्येन वैराग्येण संपन्नस्यासंसक्ति-  
नामिका पञ्चमी योगभूमिरसंप्रज्ञातयोगरूपाभिमुखी भवति । तदिदं  
बुद्धेर्विषयानुपादानानुलक्षणं स्थैर्यं परात्मनि स्थाणुत्वमुच्यते । य  
इमां भूमिं यदा स्वयं न त्यजति किंतु परप्रयत्नेनैव व्युत्तिष्ठति  
तदा पदार्थाभावनीनामषष्ठभूमिरूढ इति ज्ञेयम् । यदा तु स्वतः  
परतो वा न व्युत्तिष्ठति वृत्त्यर्थनिष्ठो न भवति तदा सप्तमीं भूमिं  
प्राप्तो भवति तदिदमुच्यते परात्मन्यचला बुद्धिरिति । यदैवमवस्थो  
जन्तुर्भवति तदाऽसौ योगं जीवब्रह्माभेदं प्राप्नुयात् । नान्यथा ॥ ५१ ॥

मानसानखिलान्कामान्यदा धीमांस्त्यजेत्प्रिय ।

स्वात्मनि स्वेन संतुष्टः स्थिरबुद्धिस्तदोच्यते ॥ ५२ ॥

विविधाः कामा ये स्वप्रतीतिमात्रविषया हार्दाकाशगता ये च

१ क. 'त्रयी वि' । २ घ. 'ज्ञातभू' । ३ ख. 'दार्धभा' । ४ क. 'नत्वच' । ५ क. घ.  
'पहक्तिः' । ६ घ. 'नाख्यविचारात्म' । ७ ख. 'दार्धभावऽनीनामषष्ठी भूमि क' । ८ क. क  
समचभू' । ९ क. ख. 'दामुयोगमतीव ब्र' ।

ध्यावहरिकाः सौमर्यादीनामिव कायव्यूहादयो ये दिव्या रम्भालाभादयः  
स्वात्मन्यविकल्पे स्वेन, अखण्डानन्दानुभवेन । शेषं स्पष्टम् ॥ ५२ ॥

अथ व्युत्थितस्य स्थिरबुद्धेर्लक्षणमाह-

वितृष्णः सर्वसौख्येषु नोद्विग्नो दुःखसंगमे ।

गतसाध्वसरुद्ररागः स्थिरबुद्धिस्तदोच्यते ॥ ५३ ॥

गतसाध्वसो निर्भयो व्युत्थानेऽपि भेददर्शनाभावात् । गतरुद्रीरोषः  
सर्वभूताभयप्रदत्वात् । गतरागो नीरागोऽवाससकलकामत्वात् ॥ ५३ ॥

यथाऽयं कमठोऽङ्गानि संकोचयति सर्वतः ।

विषयेभ्यस्तथा खानि संकर्षेद्योगतत्परः ॥ ५४ ॥

यो योगतत्परो योगी कूर्मो यथाऽङ्गानि स्वेच्छया संकोचयति, एवं  
विषयेभ्योऽनायासेन खानि, इन्द्रियाणि वश्यानि संकोचयति स  
स्थिरबुद्धिरुच्यते इति पूर्वेणान्वयः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियजयोपायमाह-

व्यावर्तन्तेऽस्य विषयास्त्यक्ताहारस्य वर्ष्मिणः ।

विना रागं च रागोऽपि दृष्ट्वा ब्रह्म विनश्यति ॥ ५५ ॥

वर्ष्मिणो देहाभिमानवतोऽपि त्यक्ताहारस्य, आहरणं विषयप्राप्त्यर्थं  
यत्नः स येन त्यक्तफलस्य त्यक्ताहारस्य यदृच्छालाभसंतुष्टस्य विषय-  
स्मरणहीनस्य विषयाः स्वयमेव व्यावर्तन्ते स्वयमेव निवर्तन्ते, परं तु  
रागं चकाराद्वेषं च विना सुखप्रदे विषये रागो दुःखप्रदे द्वेषश्च तौ  
सूक्ष्मरूपेण हृदि स्थितौ न निवर्तन्ते तावपि ब्रह्मदर्शिनो निवर्तन्ते विद्या-  
माहात्म्यादित्यर्थः ॥ ५५ ॥

विपश्चिद्यतते भूप स्थितिमास्थाय योगिनः ।

मन्थयित्वेन्द्रियाण्यस्य हरन्ति बलतो मनः ॥ ५६ ॥

यस्मादेवं तस्माद्यद्यपि ब्रह्मदर्शनेन रागोऽपि निवर्तते तथाऽपि  
विपश्चिदात्मदर्शी हे भूप योगिनः स्थितिं यथाकालं समाध्यनु-  
ष्ठानमास्थाय, अवलम्ब्य यतते, अतौ यततैवेत्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह-

कर्माणि वचनादानादीनि कारयति पूर्ववासनयाऽनुष्ठापयतीति कर्म-  
कारी स चासाविन्द्रियग्रामश्च तं नियम्य यथाकथंचिदुच्चरन्तं दुष्टाश्व-  
मिव निगृह्य, आस्ते, उपविशति । एकान्तध्यानव्याजेन निश्चलो भवति  
तद्गोचरांस्तेषामिन्द्रियाणां विषयाञ्छब्दादीन्यः पुमान्मनसा स्मरन्नास्ते स  
मन्दचित्तो जडमतिश्चित्तनिग्रहासमर्थो मिथ्याध्यानाभिनयेन सद्भिर्धि-  
गाचारो धिक्कृताचारो बैडालव्रतिक इति ब्रूवद्ध्यायतीति च निन्द्यत  
इत्यर्थः । कर्मभिः शोधितचित्तस्तु यद्ध्यायति तद्ध्यानफलं पर्यवसायि  
भवति । अतो मिथ्याध्यानं त्यक्त्वा यथाविधि चित्तशुद्ध्यर्थं कर्माण्येव  
कर्तव्यानीति भावः ॥ ५ ॥

केन प्रकारेण क्रियमाणं कर्म चित्तशोधकं भवतीति जिज्ञासा-  
यामाह—

तद्ग्रामं संनियम्याऽऽदौ मनसा कर्म चाऽऽरभेत् ।

इन्द्रियैः कर्मयोगं यो वितृष्णः स परो नृप ॥ ६ ॥

तद्ग्रामं तेषां कर्मेन्द्रियाणां ज्ञानेन्द्रियाणां च ग्रामं समूहं मनसां  
विषयवितृष्णेन चेतसा, आदौ कर्मरम्भात्प्रागेव संनियम्य सम्यङ्नि-  
गृह्य चकार आनन्तर्यार्थः । तदनन्तरं कर्म, अग्निहोत्रादिकं चित्तशु-  
द्ध्यर्थम् । आरभेत्, अनुतिष्ठेत् । वितृष्णैस्त्रिविधतृष्णा+ रहितैः  
पुरुषैः कर्तृभिः । इन्द्रियैः करणैर्यः कर्मणां योगोऽनुष्ठानम् । स परोऽति-  
श्रेष्ठः । हे नृपेति संबोधयन्नृणां पालकत्वात्पतित्वाच्च । श्रेष्ठत्वं यदेव  
करिष्यसि तदेवेतरेऽपि करिष्यन्तीति दर्शयति । वितृष्ण इति पाठेऽप्येष  
एवार्थः । तत्र त्रिविधा फलतृष्णा—अहमेवं निष्ठया कर्माणि कुर्वँल्लोके  
मान्यो भविष्यामीति दाम्भिकस्य तृष्णा, अग्निहोत्रादीनामपि काम्य-  
त्वात् । यवागूरोदनो दधिसर्पिर्ग्रामकामान्नाद्यकामेन्द्रियकामतेजस्कामा-  
नामित्याश्वलायनेन ग्रामादिकामानां पुंसां क्रमेण यवाग्वादिद्रव्यकाणि  
कर्माणि स्मर्यन्ते । तत्त्वैहिके फल एव केषां चित्तृष्णा, अग्निहोत्रं जुहुया-  
त्स्वर्गकाम इत्यामुष्मिकसुखार्थमप्यग्निहोत्रादेर्विधानात्तद्विषया तृष्णा  
तृतीया । एवं त्रिविधया तृष्णया रहितो वितृष्णः कर्ता कर्मणां मुख्यं  
फलं चित्तशुद्धिं लभते । अतः स एव परो नान्य इत्यर्थः ॥ ६ ॥

+ इत आरभ्य त्रिविधा फलतृष्णेत्यन्तर्ग्रन्थः क ख पुस्तकयोर्न ।

किंच—

अकर्मणः श्रेष्ठतमं कर्मानिच्छाकृतं तु यत् ।

वर्ष्मणः स्थितिरप्यस्य कर्मणो नैव सेत्स्यति ॥ ७ ॥

अनिच्छयां विविधफलकामनेच्छा तद्वाहित्यमनिच्छा, तया कृतं, मदीयोऽयं धर्मो ममाऽऽवश्यकः । एतदकरणादहं प्रत्यवैमीति बुद्ध्या वाऽनेनाहं स्वचिन्तं शोधयामीति बुद्ध्या वा परमेश्वरप्रीत्यर्थं करोमीति बुद्ध्या वा । सर्वथाऽपि दाम्भिककृतादप्रशस्तादैहिकफलं काम्यं प्रशस्तम् । ऐहिकामुष्मिकसुखफलं प्रशस्ततरम् । आमुष्मिकं सुखफलं प्रशस्ततमम् । निष्कामेष्वप्याद्यं श्रेष्ठम् । द्वितीयं श्रेष्ठतरम् । तृतीयं श्रेष्ठतमं, तुशब्द इच्छानिच्छाकृतयोः कर्मणोरत्यन्तवैलक्षण्यार्थः । किंच वर्ष्मणो देहस्य स्थितिरपि, अस्याधिकारिणः । अकर्मणः सर्वथा कर्मशून्यस्य नैव सेत्स्यति स्थितिरिति संबन्धः । संघातस्वभावप्राप्तस्य कर्मणोऽत्यन्ताभावे संघातोच्छेदापत्तिः । सा च सवासनस्य दुर्मरणरूपत्वान्नरकायैव भवतीत्यपिशब्देनोच्यते । सर्वत्राक्षरयोजनं स्पष्टा ॥ ७ ॥

श्रेष्ठतममेव पक्षं विपक्षे बाधप्रदर्शनपूर्वकं स्पष्टी करोति—

असमर्प्य निबध्यन्ते कर्म तेन जना अपि ।

कुर्वीत सततं कर्मानाशोऽसङ्गो मदर्पणम् ॥ ८ ॥

यज्ञादिकं कर्म मय्यसमर्प्य, अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभमितिन्यायेन कर्मणा जन्मं लब्ध्वा पुनः पूर्ववासनया कर्मैव कुर्वन्ति । सेयं कर्मजन्मनोरावृत्तिपरम्परा बीजाङ्कुरन्यायेन । तदुक्तं भगवता जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य चेति । अपिशब्दो विशेषार्थः । तमेवाऽऽह कुर्वीतेति । कर्मैव सततं कुर्यात् । कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ( ई० २ । ) इति श्रुतेः । न चैवं पूर्वोक्तानवस्थाप्रसङ्गो यस्मादनाशोऽसङ्गो मदर्पणमिति । मत्प्राप्त्युद्देशेन यत्कर्मणां करणं तन्मदर्पणं, तथाऽसङ्गश्च फलत्यागः । एतदुभयं कर्मणोऽनाशननिमित्तम् । सर्वं विहितं कर्मफलं दत्त्वा नश्यति । सङ्गः, अहं करोमीत्याभि-

१ क. ख. °या त्रिवि° । २ क. ख. °णा दिह प्र° । ३ क. घ. °जनयास्प° । ४ क. ख. °पक्षबोध° । ५ घ. कुर्वन्ति । ६ क. ख. कर्माप्यसम° । ७ क. ख. °न्ममृत° । ८ क. ख. °र्व हिक° ।

मानः । इदमनेन लप्स्यामीति फलाशा । एतदुभयं सङ्गस्तद्वाहितं मय्य-  
र्पितं च कर्म मल्लभमकृत्वा कदाचिदपि न नश्यतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतदेव द्वयं विस्पष्टयति—

मदर्थं यानि कर्माणि तानि बध्नन्ति न कश्चित् ।

सवासनमिदं कर्म बध्नाति देहिनं बलात् ॥ ९ ॥

मदर्थं मत्प्राप्त्यर्थं यानि कर्माणि कृतानि क्वचिदपि देशे काले वा  
मदितरदनात्मभूतं फलं दत्त्वा न निबध्नन्ति जन्ममृत्युधारायां न पात-  
यन्ति । कानि तर्हि पातयन्ति । कं च पातयन्तीत्यत आह—इदमेव  
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं च कर्म जात्यभिप्रायेणैकवचनं, सवासनानि कर्तृ-  
त्वाभिमानफलाभिलाषसंस्कारो वासना, तत्सहितं सवासनं कर्म ब्राह्म-  
णोऽहं कर्माधिकारीत्यभिमन्यमानः पुरुषो देहिनं, बलादेव तानि निबध्नन्ति  
नितरां बध्नन्तीति पूर्ववत् । अत एव मन्त्रब्राह्मणाभ्यां सवासनमीश्वरेऽन-  
र्पितं च कर्मान्तवत्तया निन्द्यते “पुत्रा ह्येते अष्टा यज्ञरूपा अष्टाद-  
शोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरां मृत्युं ते पुनरे-  
वापि यन्ति” (मु० १।२।७) इति “यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मि-  
ल्लोके यजति ददाति तपस्तपतेऽपि बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य  
तद्भवति ” ( बृ० ३।८।१० ) इति च ॥ ९ ॥

चित्तशुद्ध्यर्थं तु कर्माण्यवश्यं कर्तव्यानीत्यभिप्रायेणाऽऽख्यायिकापूर्वं  
दर्शयति वर्णान्सृष्ट्यादिश्लोकषट्केन—

वर्णान्सृष्ट्वाऽवदं चाहं सयज्ञांस्तान्पुरा प्रिय ।

यज्ञेन ऋध्यतामेष कामदः कल्पवृक्षवत् ॥ १० ॥

हे प्रिय हे वरेण्य, अहं प्रजापतिरूपः पुरा, कल्पादौ सयज्ञान्यज्ञैः  
सहितान्वर्णान्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यगूढ्रान्सृष्ट्वा निर्माय चानन्तरं तान्वर्णा-  
न्प्रति, अवदम्, उक्तवानस्मि । तथा च श्रुती “ प्रजापतिः  
प्रजा असृजत ” इति “ प्रजापतिर्यज्ञानसृजत ” इति च । प्रजानां  
यज्ञानां च प्रजापतिप्रभवत्वं दर्शयतः । स्वस्योक्तिमेवाऽऽह भो  
वर्णा ब्राह्मणादयो युष्माकं यज्ञेन, ऋध्यताम्, ऋद्धिभाजामेष यज्ञः  
कामदः, इष्टफलप्रदः । तत्र दृष्टान्तः कल्पवृक्षवदिति । प्राक्कृतयज्ञानु-  
ष्ठानबलेनैवार्थित्वसमर्थत्वविद्वत्त्वशास्त्रापयुदस्तत्वरूपा या यज्ञाधिकारसं-



पत्, तथा ऋध्यता युष्माकमेष एव यज्ञोऽनुष्ठितः सन्नैहिकामुष्मिक-  
सकलकामपूरको भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

सुरांश्चानेन प्रीणध्वं सुरास्ते प्रीणयन्तु वः ।

लभध्वं परमं स्थानमन्योन्यप्रीणनात्स्थिरम् ॥ ११ ॥

देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः । स च देवताप्रीतिकरोऽतोऽनेन यागेन  
सुरान्देवान्प्रीणध्वं प्रीणयध्वम्, यलोप आर्षः । चकारान्नित्ययज्ञकरणज-  
न्यप्रत्यवायाच्चाऽऽत्मानं रक्षध्वमिति लभ्यते । ततस्ते प्रीताः सुरा वः,  
युष्मान्प्रीणयन्तु इष्टकामदानैस्तर्पयन्तु । ततश्च प्रीतेषु सुरेषु परमं स्थानं  
भूलोकापेक्षया श्रेष्ठं पदं लभध्वं प्राप्स्यध्वम् । स्थानमेव विशिनष्टि—  
अन्योन्यप्रीणनात्स्थिरमिति । सुरांस्तर्पयन्तो यूयमक्षय्यं स्थानं प्राप्स्यथ  
“ अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ” इति । “ अपाम  
सोमममृता अभूम ” ( अथर्वशि० ३ ) इति च श्रवणात् । तदनेन  
नित्यानां कर्मणां प्रत्यवायानुत्पाद आनुषङ्गिकस्वर्गप्राप्तिश्चित्तशुद्धिश्चेति  
फलत्रयमुक्तं भवति ॥ ११ ॥

नित्याकरणात्प्रत्यवायोत्पादमाह—

इष्टा देवाः प्रदास्यन्ति भोगानिष्ठान्सुतर्पिताः ।

तैर्दत्तांस्तान्नरस्तेभ्योऽदत्त्वा भुङ्क्ते स तस्करः ॥ १२ ॥

इष्टा योगेन वशीकृताः । देवा इन्द्रादयः । इष्टानपेक्षितान्भोगान्भो-  
गसाधनानि, इष्टरूपन्नपानारोग्यादीनि दास्यन्ते युष्मभ्यमिति शेषः । यतो  
युष्माभिः सुतर्पिता हविषां तृप्तिं नीता यस्मादेवं तस्मात्तैर्देवैर्दत्तान्यु-  
ष्मभ्यं समर्पितान्भोगान्नर इह लम्पटस्तेभ्यो देवेभ्योऽदत्त्वा कायवाङ्म-  
नोभिः कृतं कर्मासमर्प्य यो भुङ्क्ते स तस्करः कृतघ्नश्च कृतघ्नत्वाच्चोर  
इव देवानां दण्ड्यो भवति । असमर्पणं च पञ्चयज्ञाद्यकरणादेव ।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।

करोमि(ति)यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं

पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।

संचारः पदयोः प्रदक्षिणगतिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो

यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाऽऽराधनम् ॥

इति श्लोकद्वयोक्तभावनाया अकरणाद्वितीयमसमर्पणम् । अहमेवाऽऽद्यो भोक्तेतीन्द्रियारामतया तृतीयसमर्पणम्(?) । एतेषामकरणादवश्यं यमस्य दंडो भवतीत्यर्थः । कृतमपि पुण्यमेकाकी भोजनो नश्यति । ततश्च पुण्यपापयोः साम्यामावान्न मनुष्यजन्म प्राप्नोति किं तु शाश्वतं नरकमेव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

तत्राऽऽद्ये पञ्चयज्ञादिकरणे गुणमन्त्य इन्द्रियारामत्वे दोषं च क्रमेणाऽऽह—

हुतावशिष्टभोक्तारो मुक्ताः स्युः सर्वपातकैः ।

अदन्त्येनो महापापा आत्महेतोः पचन्ति ये ॥ १३ ॥

श्रौतेऽग्नौ यागशेषमिडादि, तद्धुतावशिष्टं तस्य भोक्तारः श्रौतस्मार्त-यज्ञपराः । सर्वकिल्बिषैः, अनेकजन्मसंततिदुर्वासनारूपैर्मलैर्मुच्यन्ते । एतेन चित्तशुद्धिकरत्वं यज्ञस्योक्तम् । स्युर्भवन्ति । य आत्महेतोः । आत्मार्थमेव पचन्ति, अन्नं निष्पादयन्ति न तु वैश्वदेवाद्यर्थं ते महापापा महान्ति पापानि ब्रह्महत्यासुरापापानादीनि येषां सन्ति ते महापापाः । तत्तुल्याः । एनः पापम् । अदन्ति भक्षयन्ति । तेन पापस्वरूपा एव भवन्तीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः “केवलाघो भवति केवलादी” इति । केवल एकाकी, अदी, अदनशीलः । पक्वमन्नमविभज्यान्येभ्यो यो भुङ्के स केवलाघो भवति ॥ १३ ॥

तत्तत्कारणपरम्परामुखेन सर्वकारणत्वं यज्ञस्याऽऽह—

ऊर्जो भवन्ति भूतानि देवादन्नस्य संभवः ।

यज्ञाच्च देवसंभूतिस्तदुत्पत्तिश्च वैधतः ॥ १४ ॥

ऊर्जोऽन्नाद्भूतानि जरायुजाण्डजादीनि भवन्ति, उत्पद्यन्ते वर्धन्ते च । तथा च श्रुतिः—“अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते” (तै०आ० ६।१२।) इति । देवात्पर्जन्यादन्नस्योर्कसंज्ञस्य । अत्रोर्गशब्दौ प्रत्येकं सरसस्यान्नस्य वाचकौ । पर्जन्यादन्नमन्नाद्भूतानीत्येतदुभयं लोकप्रसिद्धम् । विधेयमाह—यज्ञादिति । यज्ञात्प्रसिद्धाद्देवसंभूतिः पर्जन्यस्योत्पत्तिः । तथा च श्रूयते—

\* अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ इति ।

तदुत्पत्तिः पर्जन्यहेतोर्यज्ञस्योत्पत्तिस्तु वैधतः, विधिप्रधानान्मन्त्रादिकलापात् । विधेयो यज्ञो मन्त्रद्रव्यार्त्विगादिभिः साध्यत इत्यर्थः ॥१४॥

तथा-

ब्राह्मणो वैधमुत्पन्नं मत्तो ब्रह्मसमुद्भवः ।

अतो यज्ञे च विश्वस्मिन्स्थितं मां विद्धि भूमिप ॥ १५ ॥

वधं विधिकलापात्मकं कर्म, अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमात्मकं ब्राह्मणो मत्तो ब्राह्मणात्मकदेहादुत्पन्नं तथा मत्तोऽक्षरस्वरूपात्पणवार्थ-भूताद्ब्रह्म वेदाख्यमुत्पन्नम् । “अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः” (बृ० २।४।१०) इत्यादिश्रुतिः । अतो यस्मादेवं तस्माद्यज्ञे कर्ममये तत्फलभूते विश्वस्मिन्क्रियाकारकफलात्मके चकारादक्षरात्मके वेदे च मां सद्रूपेण प्रकाशरूपेण च विद्धि जानीहि । आनन्दरूपेण चानुस्यूतमाद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयमिति । भूमिपेत्यामन्त्रणेन यथा भूमिरेव बीजशक्तिद्वारा मूलाङ्कुरतरुशाखापलवस्कन्धबुध्नादिरूपेणावस्थिता दृश्यत एवमहमेव मायातत्कार्यब्रह्माण्डकोटिरूपेणावस्थितोऽस्मि । तं भूमिरूपं मामात्मरूपेण पासि रक्षसि मन्निष्ठातो न तु च्यवसीति सूचयन्नामन्त्रयति भूमिपेति ॥ १५ ॥

आख्यायिकापूर्वं व्युत्पादितस्य धर्मप्राधान्यस्य फलमाह-

संसृतीनां महाचक्रं क्रामितव्यं विचक्षणैः ।

स मुदा प्रीणते भूपेन्द्रियक्रीडोऽधमो जनः ॥ १६ ॥

विचक्षणैः सङ्गफलत्यागपूर्वकं मत्प्रीत्यर्थं कर्तुमनुष्ठातुमतिकुशलैर्भूत्वा पुरुषधौरेयैरिदं संसृतीनां चक्रमिव चक्रं बीजादङ्कुरादि पुनर्वा जातमनन्त-परिवर्तनं संसारचक्रमिदं बीजभूताविद्यादाहेन क्रामितव्यं लङ्घनीयम् । य एतत्कर्तुं क्षमते स पुरुषो मुदा, आत्मलाभादिर्भूतेन हर्षेण प्रीणते स्वा-

\* एतद्वचनं क. ख. पुस्तकयोर्न विद्यते ।

१ ख. ‘सो ब्रह्मात्म’ । २ घ. ‘तमकादेदादु’ । ३ क. ख. ‘श्वकि’ । ४ क. ख. ‘च अनु’ । ५ क. ख. ‘स्यूतं त’ । ६ क. घ. ‘क्रीडते’ ।

त्मना स्वयमेव प्रीतिं लभते । तथा च श्रुतिः—“आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रिया-  
वानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः” (मु० ३।१।४) इति “जक्षन्क्रीडन्नममाणस्त्रीभिर्वा  
यानैर्वा” (छा० ८।१।२।३) इति च ब्रह्मविदो व्युत्थानावस्थायामपि मुदा  
क्रीडनं दर्शयति । भूषेति संबोधयन् यथा भूः स्वोद्भवमेव बीजाङ्कुरवृक्षपुष्प-  
फलादिकं स कियताऽपि कालेन पिबति लवणोदकमिति न्यायेनाऽऽत्म-  
साम्यं नयति, एवं निर्विकल्पावस्थायां सविषयं ज्ञानं त्वमपि मत्कृपया  
ग्रसितुमर्हसीतिसूचयन् भूषेति संबोधनं, भुवं पिबतीत्यवयवार्थः । संसृती-  
नामिति बहुवचनं मूढानां संसारस्याऽऽनन्त्यं दर्शयति । अत एव तदनति-  
क्रमे दोषमाह—इन्द्रियक्रीडोऽधमो जन इति । यः केवलमिन्द्रियक्रीडार्थ-  
मेव क्रीडते न तु धर्मब्रह्मणी अनुष्ठातव्याधिगन्तव्ये जानाति नापि  
तदर्थं यतते स जनोऽधमः । तिर्यक्स्थावरादिवत्कर्तव्यानवबोधादिति नि-  
कृष्टो ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ १६ ॥

पूर्वार्थोक्तमतिक्रान्तसंसारचक्रं जीवन्मुक्तं स्तौति—

अन्तरात्मनि यः प्रीत आत्मारामोऽखिलप्रियः ।

आत्मतृप्तो नरो यः स्यात्तस्यार्थो नैव विद्यते ॥ १७ ॥

बाह्य आत्मा पाञ्चभौतिकं शरीरं मूढानां तत्रैव ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहं  
ममेदं यज्ञादिकमवश्यानुष्ठेयमिति तत्रैवाऽऽत्माभिमानात् । तमपेक्ष्यान्त-  
रात्मा लिङ्गशरीरं तस्मिन्स्थित्वा सविकल्पसमाधिकाले यः प्रीतो भवति  
मया ज्ञातव्यं ज्ञातमाप्तव्यमाप्तं मत्तोऽन्यन्न किञ्चिदस्ति कृतकृत्योऽहमित्या-  
त्मनि प्रीतिमनुभवति सोऽन्तरात्मनि प्रीत उच्यते । तथा निर्विकल्पे समाधौ  
सार्वार्थ्यं सार्वज्ञ्यं सार्वकाम्यं च तुच्छीकृत्यास्मीत्यस्मितामपि संत्यज्या-  
खण्डैकरसे ज्ञातृज्ञानज्ञेयप्रतीतिशून्य आत्मन्येवाऽऽरमते स आत्मारामः ।  
व्यावृत्तकृत्स्नोपाध्यपेक्षया सर्वेषामान्तरत्वादाखिलस्य जनस्य प्रियः । अत  
एवैनं देवा अपि नाभिभवितुं शक्नुवन्ति तेषामप्यात्मभूतत्वात् । तथा च  
श्रुतिः “तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति” (बृ० १।  
४।१०) इति । च नेत्यप्यर्थो निपातः । देवाश्च न देवा अपीत्यर्थः । यथा  
चतुरशीतिलक्षाणां योनीनां भूपदत्वाद्भूमिरेव मुख्योऽन्तरात्मा तथाऽय-

मपीति भावः । आत्मनः प्रियत्वं च निरुपाधिप्रेमगोचरत्वलिङ्गेन, “तदेत-  
त्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यद्यमात्मा” (बृ० १।  
४।८) इति श्रुतेः । सौषुप्तनिरतिशयानन्दानुभवेन च सिद्धम् । यदाहुर्वृ-  
द्धाः—प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि हि दर्शयन्ति निर्दुःखनित्यसुखविग्रहताप्रतीते,  
इति । तथाऽयमेव व्युत्थाने पूर्वसंस्कारेण कर्माणि कुर्वन्नप्यात्मतृप्त  
आत्मलाभेन तृप्तः । अत एव(?) इच्छाशून्यत्वात्प्राप्यान्तराभावाच्च । य एवं-  
भूतो नरः स्यात्तस्य पूर्वोक्तविधया सङ्गादित्यागपूर्वेणापि कर्मणा नार्थः  
प्रयोजनमस्ति, कृतार्थत्वात्तस्य । तथा हि ज्ञाततत्त्वस्य कर्मस्वौदासीन्यं  
श्रूयते—“एतद्ध स्म वै ते विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्थं वयमध्ये-  
ष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणे वा वाचं यो  
ह्येवंप्रभवः स एवाप्यय” इति । स्वापे तूष्णींभावे वा प्राणे वाग्भवति  
यदाऽधीते भाषते वा तदा वाचि प्राणो भवति । तथा “किं प्रजया करि-  
ष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः” इत्यात्मविदामानृण्यं दर्शयतीति  
सुष्ठूक्तमन्तरात्मनीत्यादि ॥ १७ ॥

अन्त्यमेव पादं विवृणोति—

कार्याकार्यकृतीनां स नैवाऽऽप्नोति शुभाशुभे ।

किञ्चिदस्य न साध्यं स्यात्सर्वजन्तुषु सर्वदा ॥ १८ ॥

कार्या अवश्यकर्तव्या अग्निहोत्रादयः । अकार्यास्ताद्विपरीता द्यूतक्री-  
डादयस्ता एव कृतयः कर्माणि तेषां फलभूते ये शुभाशुभे स्वर्गनरका-  
दिरूपे नैवाऽऽप्नोति । कर्तृत्वादिकमन्तःकरणस्याऽऽत्मनो विविक्तत्वात् ।  
अवाप्तसकलकामस्यास्य ज्ञस्य किञ्चिदप्यैहिकमामुष्मिकं वा साध्यं  
नास्ति । तत्र हेतुमाह—सर्वजन्तुषु सर्वदेति । स्थितस्येति शेषः । “य एवं  
वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं भवति” (बृ० १।४।१०) इति । आत्मविदः  
सार्वार्थ्यं प्राप्तस्य प्राप्यान्तराभावादिति भावः ॥ १८ ॥

उपपादितं कर्मयोगमुपसंहरति—

अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः ।

सक्तो गतिमवाप्नोति मामवाप्नोति तादृशः ॥ १९ ॥

अतो यस्मात्कर्म विनैव न नैष्कर्म्यसिद्धिरतो हेतोः । असक्ततया  
कर्तृत्वाभिमाना फलाभिलाषी च सक्तस्तद्विपरीतोऽसक्तः । तस्य

भावस्तत्ता तथा । जन्तुभिर्मुमुक्षुभिः । कर्म नित्यं नैमित्तिकं च निषिद्ध-  
काम्यवर्जनपुरःसरं कर्तव्यम् । भूपेति संबोधयल्लोकशिक्षार्थं त्वयाऽपि  
कर्म कर्तव्यमिति दर्शयति । अन्यथा शिक्षकाभावेन कर्मसंप्रदायोच्छेदा-  
द्भूविप्लवेतेति भावः । उक्तरूपः सक्तः । तत्तत्कर्मफलभोगाय तं तं  
देशं प्रति । गतिं गमनं प्राप्नोति । तथा च श्रूयते “शतं चैका च हृदयस्य  
नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या  
उत्क्रमणे भवन्ति” ( छा० ८।६।६ ) इति । एकशततमया नाड्याऽमृतत्व  
क्रममुक्तिस्थानं प्राप्नोति । अन्याभिर्गच्छन्पुनरावर्तत इत्यर्थः । तादृशः,  
असक्तस्तु चित्तशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानं प्राप्य परं विनैव गतिमिहैव मां  
निष्कलानन्दरूपं ब्रह्म प्राप्नोति । तथा च श्रुतिः—“ इति यः कामय-  
मानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकामः स्यान्न तस्य प्राणा  
उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ” ( बृ० ३।२।६ ) इति  
निष्कामतया तत्त्वविदामनुत्क्रान्तिं दर्शयति ॥ १९ ॥

यस्मादेवं प्रभावं कर्म तस्मात्कृतकृत्योऽपि लोकसंग्रहार्थं कर्माणि  
कुर्यादित्याह—

परमां सिद्धिमापन्नाः पुरा राजर्षयो द्विजाः ।

संग्रहाय हि लोकानां तादृशं कर्म चाऽऽरभेत् ॥ २० ॥

पुरा कृतयुगादौ परमां सिद्धिमिहैव कैवल्यं जीवन्त एव राजर्षयो  
राजानश्च ऋषयश्च राजर्षयो जनकवसिष्ठादय आपन्नाः सिद्धिः प्राप्ताः ।  
प्राप्तव्यान्तराभावेऽपि लोकानां संग्रहाय सर्वश्रेयोमूलभूते सदाचारे  
प्रवृत्त्यर्थं तादृशं पूर्वोक्तप्रकारं कर्म, आरभेदनुतिष्ठेत् । यथा जडो जन  
आसक्तः कर्माऽऽरभते तथाऽयमपि लोकशिक्षार्थं कर्माऽऽरभेतैवेत्यर्थः ।  
किंचाद्विजा अपि धर्मव्याधपतिव्रतादयोऽलौकिकदर्शनेन कृतकृत्या  
अपि स्वोचितं धर्मं मातापितृसेवनभर्तृशुश्रूषादिकं कुर्वन्तीति न तु  
काष्ठमौनेन जडभरतादिवत्कर्मसूदासते । एतच्च महाभारत उपाख्यायते ।  
हिशब्द एतद्व्योतयति । अद्विजाश्चेत्युत्तरार्धस्थश्चकारः पूर्वेण संबध्यते,  
शेषं स्पष्टम् ॥ २० ॥

१ क. ख. “शतं तस्या ना” । २ क. अस्याभिर्गच्छत्युत्तरा” । ३ ख. “क्षयन्तीतिभावः ।

४ घ. “किंकेन द” ।

लोकशिक्षार्थतामेव विद्वत्कर्मणां स्पष्टयति—

श्रेयान्यत्कुरुते कर्म तत्करोत्यखिलो जनः ।

मनुते यत्प्रमाणं स तदेवानुसरत्यसौ ॥ २१ ॥

श्रेयानितरजनापेक्षया प्रशस्ततरो वेदोदितकर्मनिष्ठावान्यत्करोति गुरु-  
देवताग्निपित्रादिभजनं तत्तथैवाखिलः सर्वोऽपि जनः करोति स एव  
श्रेयान्यत्प्रमाणं मनुते तदेवासौ हीनोऽपि जनोऽनुसरति । पदव्याख्या  
स्पष्टा । दृश्यन्ते हि शिष्टप्रदर्शितमार्गानुसारिणो देशाचारविशेषास्तैस्तै-  
र्जनैरनुष्ठीयमानाः प्रमाणभूता भवन्तीति ॥ २१ ॥

अत्रैवार्थं स्वाचारमपि प्रमाणत्वेन दर्शयति—

विष्टपे मे न साध्योऽस्ति कश्चिदर्थो नराधिप ।

अनालब्धश्च लब्धव्यः कुर्वे कर्म तथाऽप्यहम् ॥ २२ ॥

ननु—‘ न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ’ ॥

इतिभगवद्वाक्यं प्रमाणं, मानुषनाट्यं दर्शयतस्तस्य सर्वकर्माचरणं प्राप्त-  
मेव तदाचरणं च लोकसंग्रहार्थं युक्तमेव । गणपतेस्तु देवतारूपस्य न मानु-  
षनाट्यानुकरणं युज्यते ते ह वै देवा अश्रन्ति न पिबन्तीति सामा-  
न्यदेवतानामप्यशनपानाद्यभावबोधिकाया श्रुत्या कर्माभावो ज्ञाप्यते  
किमुत सर्वदेवमयस्य महागणपतेः । कर्माधिकारिशरीररहितस्य वर्णा-  
श्रमोचितकर्मराहित्यमित्यतः कथं कुर्वे कर्म तथाऽप्यहमिति गणपतिवाक्यं  
संगच्छताम् । यद्यप्येवं तथा जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेति  
श्रूयमाणानां कर्माधिकारिविशेषणानां संभवो नास्ति तथाऽपि ब्रह्म-  
विद्वद्भ्यैव भवतीति ज्ञानी त्वात्मैव मे मतमिति श्रुतिस्मृतिभ्यां  
जनकयाज्ञवल्क्यादीन्ब्राह्मिष्ठान्स्वामित्वेन पश्यतो हेरम्बस्येदं वाक्यं  
विष्टपे म इति, मे मम जनकयाज्ञवल्क्यादिब्रह्मविदूषेण वर्तमानस्य  
विष्टपे त्रिभुवने ब्रह्मवित्त्वादेवावाप्तसकलकामस्य विष्टपेऽस्मिञ्चगति  
कश्चिदप्यर्थः साध्यः साधनेनाऽऽप्यः प्राप्य आप्तकामत्वादेव नास्ति ।  
तथा च विद्याफलं श्रूयते “ सोऽनुते सर्वान्कामान्सह ” (तै०आ०२।१।१)

१ ख. मेल्यविद्वत्कर्माणि स्प<sup>०</sup> । २ ख. °तिभावः । अ<sup>०</sup> । ३ ख. °ते । नेह । ४ क. °काराशं ।  
ख. °कारशं । ५ ख. विशेषाणां । ६ क. घ. °मितत्वे ।

इति । अनालब्धश्च, आलब्धः साकल्येन प्राप्तः । तद्विपरीतोऽनालब्धः सोऽपि लब्धव्यो नास्ति । अकृत्स्नब्रह्मवेदिनो हि किञ्चिदनात्मवशिष्यते न तु कृत्स्नब्रह्मवेदिनः । अत्र शास्त्रे कृत्स्नब्रह्मवेदिनौ कांशकृत्स्नबादरायणौ तयोरप्याद्योऽनीश्वरः परस्तु सर्वेश्वरस्तावेतौ द्वापे अन्धसस्पते दरिद्रं नीललोहित” (तै०स० ४।६।१०) इति शतरुद्रीये तारकब्रह्ममन्त्रैर्दरिद्रान्धसस्पतिशब्दाभ्यामुच्येते । तथा चतुष्पदो ब्रह्मण एकैकपादविदश्चत्वारोऽकृत्स्नब्रह्मविदः । तेष्वन्नाख्यस्य विराज उपासको जैमिनिर्नीललोहितापरनामा । तथा प्राणारव्यस्य सूत्रस्योपासक आश्मरथ्यो द्वापिनाम्नाऽप्युच्यते । तथा मनआख्यस्येश्वरस्योपासको बादरिद्रापिमन्त्रे पुरुषशब्देनोच्यत एवमप्रविलाऽपि तद्वैतैस्तुयो वैदौदुरतोभिर्द्वापिमन्त्रे पशुशब्देनोच्यते, एतच्चोपरिष्ठात्सोपपत्ति विस्तरेण प्रपञ्चयिष्यते तथाऽपि कृत्स्नविदप्यहं कर्म कुर्वे लोकशिक्षार्थमित्युक्तमेव ॥ २२ ॥

विपक्षे बाधकमाह द्वाभ्याम्—

न कुर्वेऽहं यदा कर्म स्वतन्त्रोऽलसभावितः ।

करिष्यन्ति मम ध्यानं सर्वे वर्णा महामते ॥ २३ ॥

अहं परमेश्वरो जगद्गुरुः । यदा यदि कर्म नित्यं नैमित्तिकं चाग्निहोत्रजातेष्ट्यादि न करोमि । अत्र हेतुमाह—स्वतन्त्रोऽलसभावित इति । अज्ञो हि विधिकिङ्करः । तद्विपरीतत्वाज्ज्ञानी स्वतन्त्रः । अकरणे स्वात्मनः प्रत्यवायाभावं पश्यन्, अलसभावित इति । अज्ञोऽलसः सर्वकरणव्यापारेष्वभेदेष्वप्रवृत्तिः । तथा भावितोऽङ्कित उदासीन इत्यर्थः । स्वतन्त्रश्चासावलसभावितश्चेति विग्रहः । ततश्च का हानिरित्यत आह—करिष्यन्तीति । सर्वे वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः । एतच्च ब्रह्मचारिवानप्रस्थगृहस्थपरिव्राजामप्युपलक्षणम् । एते सर्वे मम वसिष्ठादिरूपस्य ध्यानं सर्वकर्मपरित्यागेनावस्थानं जगद्गुरौ तूष्णींभावेनावस्थिते जडोऽपि तोको विनाऽपि बौधं तदनुकारमात्रं दर्शयन्स्वार्थाद्भ्रष्टो भविष्यति त्वं तु महामतित्वाद्बालाचारमात्रनिष्ठो न भविष्यसि तेन न स्वार्थच्युतो भविष्यसीति ॥ २३ ॥

१ क. ख. 'दज्ञानम्' । २ घ. काशिकृ° । ३ क. तत्सूर्यवै° । ४ ख. 'स्तुर्यवादे दुरतोऽपि द्रो°' । ५ ख. बोधं । ६ ख. 'द्येनम्' । ७ ख. 'ति' । तत्त्ववित्तुमहामतित्वाद्वा लोका चा । ८ ख. 'ध्यति ते' । ९ क. ख. 'नस्वार्थ' ।



ननु भ्रश्यतु लोकैः स्वीयस्वार्थात्का मम हानिरित्याशङ्क्याऽऽह-

भविष्यन्ति ततो लोका उच्छिन्नासंप्रदायिनः ।

हन्ता स्यामस्य लोकस्य विधाता संकरस्य च ॥ २४ ॥

ततो मदीयध्यानानुकरणालोका मूढा जना उच्छिन्नाश्च तेऽसंप्रदायिनश्च उच्छिन्नासंप्रदायिनः । ध्यानसंप्रदायशून्याः केवलं तद्वत्तूष्णी-भावेनावस्थिताः स्वधर्मत्यागजेन दोषेण तिर्यक्स्थावरनारकयोनीः प्राप्योच्छिन्ना भवन्ति । उच्छेदे संप्रदायराहित्यं हेतुः । ततोऽपि किमित्यत आह-हन्तेति । अस्य लोकस्य मिथ्याध्यायिनोऽहमेव हन्ता हिंसकः स्यां भवेयं तथा संकरस्य धर्माचारव्यवस्थाया अभावः संकरस्तस्य विधाता कर्ताऽहमेवं स्यामेतच्च मम लोकपरिपालनार्थं धर्मसंस्थापनार्थं च बहूनवतारान्धतोऽत्यन्तविरुद्धमित्यर्थः ॥ २४ ॥

नन्वेवं विद्वद्विदुषोस्तुल्यवत्कर्मणामनुष्ठाने प्राप्ते कस्तयो विशेष इत्याकाङ्क्षायामाह-

कामिनो हि सदा कामैरज्ञानात्कर्मकारिणः ।

लोकानां संग्रहयैतद्विद्वान्कुर्यादसक्तधीः ॥ २५ ॥

कामिनः स्वर्गपुत्रादिकामवन्तः । हि प्रसिद्धं सदा नित्यं कामैः काम्यमानैर्दिव्याङ्गनास्रक्चन्दनवसनादिभिर्विषयैर्निमित्तभूतैस्तत्तद्विषय-लाभार्थं कर्मकारिणः । तत्तद्विषयप्रापककर्मकरणशीला भवन्ति कुतो-ऽज्ञानात्, आत्मैव सर्वकाममयस्तलाभात्सर्वं लब्धमेव भवतीति ज्ञाना-भावादस्याप्यविदुषः कर्मोक्त्वा विदुषस्तदाह विद्वान्स्तु लोकानां संग्र-हयैत्कर्म कुर्यात् । अथ विद्वत्पदार्थमाह-न केवलं कर्मप्रयोगचतुरो विद्वानिह विवक्षितः किं तु असक्तधीः । कर्तृत्वाभिमानफलासक्तिरहिता धीर्यस्य स तथा । सक्तत्वासक्तत्वाभ्यामेव मन्दबुद्धयोः कर्मणी विद्येते न स्वरूपभेदादित्यर्थः ॥ २५ ॥

एवं विद्वद्विदुषोः कर्मभेदे सत्यप्यविदुषां मतिभेदं विद्वान्न कुर्वीतेत्याह-

१ क. 'कः श्रीकः स्वा' । २ क. ख. 'वस्यां सतश्चम । ३ क. घ. 'न्ति । अतो' । ४ क. घ. 'दन्यवि' । ५ क. 'हायसतर्क' । ख. 'हायसत्क' । ६ ख. 'बुद्धिनोः कर्मणि भिद्यन्ते न । ७ ख. 'न मुखेदित्या' ।

विभिन्नत्वमार्तिं जह्यादज्ञानां कर्मचारिणाम् ।

योगयुक्तः सर्वकर्माण्यर्पयेन्मयि कर्मकृत् ॥ २६ ॥

अज्ञानां मूढानां कर्मचारिणां सङ्गपूर्वकं कर्मकरणशीलानां विभिन्नत्वमार्तिं युष्माकं मूढानां कर्माण्यन्यादृशानि, अस्माकं विदुषां कर्माण्यन्यादृशानीति क्रियमाणेषु कर्मसु विभिन्नत्वमार्तिं जह्यात्, अन्तर्भावितण्यर्थोऽयं हापयेदित्यर्थः । विद्वद्विदुषोः प्रयोगभेदं न ज्ञापयेदित्यर्थः । नन्वसक्तः सक्तेष्वसक्ततां प्रकाशयन्नुपकर्ता तेषां भवतीति कथमुच्यते विभिन्नत्वमार्तिं जह्यादित्यत्रोच्यते । न हि मूढः स्वात्मनोऽकर्तृत्वं जानाति न च निष्कले कर्मणि प्रवर्तते । अतः सकामकर्मापेक्षया कर्माकरणमेव श्रेय इति मत्वा लोकद्वयाद्भ्रूयति तद्वरं स्वर्गार्थकर्मकरणेऽपि नान्तरीयकी चित्तशुद्धिर्भविष्यतीति कामिनोऽपि भोगं भङ्गुरमीक्षन्ते चित्तशुद्ध्यनुरोधत इति युक्तं, तथा विभिन्नत्वमार्तिं हापयेदित्यस्य तेषां बुद्धिभेदं न कुर्यादित्यर्थः । किंतु योगयुक्तः 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' इत्युक्तलक्षणेन योगेन युक्तः सन्सर्वाणि कर्माणि मय्यर्पयेत् । अतः कर्मकृदेव भवेन्न कर्म जह्यादित्यर्थः ॥ २६ ॥

। कथं तर्हि विद्वांसोऽपि कर्म कुर्वन्ति न तु पारिव्राज्यमनुतिष्ठन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—

अविद्यागुणसाचिव्यात्कुर्वन्कर्माण्यतन्द्रितः ।

अहंकारान्मन्दबुद्धिरहं कर्तेति योऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

देहादिष्वनात्मस्वात्मबुद्धिः । अहं मनुष्यः कर्ता भोक्ताऽधिकारीति या बुद्धिः साऽविद्या, तस्या गुणो भोक्तृत्वाभिमानस्तस्य साचिव्यात्प्राधान्यात्स्वरसवाही विदुषोऽपि यथारूढोऽभिनिवेश इत्युक्तलक्षणोऽभिनिवेशस्तस्मात् । विद्वानपि कर्तृत्वाभिमानस्य गगननैल्यप्रतिबिम्बादिभ्रमिवदपरिहार्यत्वादतन्द्रितः, अनादिसंस्कारादनलसः कर्म संध्योपासनादिकं कुर्वन्नेव भवति । मन्दबुद्धिस्त्वहंकारात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । अनात्मानमप्यहंकारमात्मवदध्यस्याहमेव कर्तेति योऽब्रवीत् । अविवाक्षितः

१ ख. 'लेनक' । २ क ख. 'कर्माणमेवं श्रे' । ३ क. 'क्तं तेऽवि' । ४ क. ख. 'चिन्त्यं प्राधान्यं स्वर' । ५ ख. 'था दृढो' । ६ ख. 'मानी न ग' । ७ क. 'तः कोऽपि ब्र' । ख. 'तः को रसः योगवदीदहं' ।

कालो यो ब्रवीत्यहं कर्तेति स मन्दबुद्धिरिति योजना । विदुषामप्य-  
परिहार्यं कर्म किमुताविदुषामविद्याग्रस्तानामिति भावः ॥ २७ ॥

एवं सत्यपि विदुषां विशेषमाह—

यस्तु वेत्यात्मनस्तत्त्वं विभागाद्गुणकर्मणोः ।

करणं विषये वृत्तमिति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

यः पुरुषो धौरेय आत्मनः प्रतीचस्तत्त्वम्, आरूपितं रूपं कोशपञ्चका-  
तीतं सत्यज्ञानानन्दैकरसमनृतदुःखास्पर्शि अकर्तृ अभोक्तृ चेति श्रुत्य-  
नुभवैरपरोक्षी करोति स न सज्जत इत्यन्वयः । कथं करोतीत्यपेक्षायामाह—  
गुणकर्मणोर्विभागादिति । गुणा दशेन्द्रियाणि कर्माणि च स्वस्वविषयप्र-  
काशनानि तयोर्विभाग आत्मनः पृथक्त्वं तस्माद्धेतोः । अत्र हि चक्षु-  
रूपं पश्यति तच्छ्रुतिमाह तदभिमानं चिदाभास एव विन्दति न तु  
तेषां प्रकाशकः कूटस्थ आत्मा । तथा हि समे मातृमानमेयव्यवहारं  
तत्कृतौ हर्षविषादौ च प्रमातृनिष्ठौ प्रकाशयन्तत्संघातातिरिक्तः स्वयं-  
ज्योतिरात्मा प्रमातृवद्भर्षविषादाभ्यां न लिप्यते किंतु स्वस्यापि द्वैत-  
प्रतीतौ करणम्, इन्द्रियं चतुर्दशविधं विषये स्वे स्वेऽर्थे चतुर्दशविधे  
वृत्तम्, अनुरक्तं मग्नं न त्वहं तेषां साक्षीति मत्वा निश्चित्य न सज्जते ।  
अहमिदं कर्म करोमि तत्कृतौ हर्षविषादौ च प्राप्नोमि, इति सङ्गमभि-  
मानं न करोतीत्यर्थः । ननु चाविद्यागुणसाचिव्यात्कर्तृत्वाद्यभिनिवेशो  
विदुषोऽपि दृश्यते तत्कथं न सज्जत इत्युच्यते । प्रतीयमानमपि गगननै-  
ल्यादिवत्तुच्छत्वनिश्चयादिति दत्तोत्तरमेतत् ॥ २८ ॥

अज्ञाः कथं सज्जन्त इत्यपेक्षायामाह—

कुर्वन्ति सकलं कर्म गुणैस्त्रिभिर्विमोहिताः ।

अविश्वस्तस्वात्मद्रुहो विश्वविन्नैव लङ्घयेत् ॥ २९ ॥

त्रिभिर्मायागुणैस्तमोरजःसत्त्वैर्विमोहिता विशेषेण मोहः संजातो  
येषां ते तथाभूताः सफलं कर्म कुर्वन्तीत्यन्वयः । तमसा हि रज्जुवत्प्र-  
त्यक्तत्त्वमावृतम् । रजसा तु तत्रैवाहंकारादिर्घटान्तः प्रपञ्चः सर्पवद्विक्षि-  
प्यते स च त्रिविधः । तेषु स्वाप्नोऽनृत एव सर्वप्राणिप्रत्यक्षबाधोऽयं नित्य

एव हार्दस्तु सत्यो नित्यश्च । अत एव योगिनो हार्दाकाशं प्रविष्टाः सर्वं त्रैकालिकं सर्वावस्थं संकल्पसमकालोत्थितं करतलामलकवत्पश्यन्तीति पूर्वजनसिद्धान्तः । तदेतच्चिविधं जगत्सत्त्वांशेन सत्यमित्येव मन्यन्ते एवंत्रिभिर्गुणैर्मोहिताः सन्तः सफलं कर्म कुर्वन्ति, अनेन कारीर्यादिना कर्मणां मयेदं वृष्टिरूपं फलमुत्पादितं ततः सस्यसंपत्सुखं च प्राप्तमिति मन्यन्ते मन्दाः । उपनिषत्सु विश्वस्तास्तु गुणत्रयकृतं तं मोहं त्रिभिः श्रवणमनननिदिध्यासनैरपाकृत्यैकरसं वस्तु पश्यन्तो न सज्जन्ते । तथाहि रजस्तमोमलिनेन सत्त्वेन निश्चितप्रपञ्चस्य परमार्थत्वं मायामात्रमिदं द्वैतमिन्द्रजालमिव स्थितमिति मिथ्यादर्शनाच्चेह नानाऽस्ति किंचनेत्यादिना श्रवणेन निरस्यते, तथैवाहंकारादिकं मिथ्यादृश्यत्वादित्यनुमानेन श्रुत्यनुगृहीतेन तस्यैव विक्षेपांशस्योन्तत्वमवधारयति । ततो निदिध्यासनेन पञ्चविधानात्मकारप्रत्ययतिरस्करणेन तत्तदुपाध्याकारतानिरसनपूर्वकरज्जुतत्त्ववन्निर्बीजसमाध्यभ्यासादात्मतत्त्वमवधारयति शास्त्रबलेन । ये तु शास्त्रे श्रद्धामक्तिरहिता अत एवाविश्वस्तास्त आत्मद्रुहश्चतुरशीतिलक्षयोनियातनेन स्यस्याऽऽत्मनः स्वयमेव द्रोहं कुर्वन्ति तेऽविश्वस्तस्वात्मद्रुहः । अविश्वस्ताश्च ते स्वात्मद्रुहश्चेति विग्रहस्तान्स्वात्मद्रुहो मूढान्विश्ववित्, आत्ममात्रं सर्वमिति जानन्नलङ्घयेन्न तिरस्कुर्यात् । किंतु तेषामनुग्रहाय स्वयं कर्माणि कुर्यात्तानर्पि कारयेदिति पूर्वोक्तं न विस्मर्तव्यमिति भावः ॥ २९ ॥

एतदेवाज्ञस्य जिज्ञासोरवश्यं कर्मणां कर्तव्यतां दर्शयति—

नित्यं नैमित्तिकं तस्मान्मयि कर्मार्पयेद्बुधः ।

त्यक्त्वाऽहंमताबुद्धिं परां गतिमवाप्नुयात् ॥ ३० ॥

यस्मात्कर्माणि विविदिषाव्युत्पादनद्वारा ज्ञानं जनयन्ति तस्मान्नित्यमग्निहोत्रसंध्योपासनादि । नैमित्तिकं राहूपरागे स्नानदानादि पुत्रजन्मादौ जातेष्ट्यादि च कृत्वा मयि सर्वान्तर्यामिणि बुधः कुशलोऽर्पयेत् । मय्यर्पणमप्यहन्ताबुद्धिर्महमस्य कर्तेति, कर्तृत्वाभिमानं ममताबुद्धिमहमस्य कर्मणः फलं मोक्षयामीति तत्र स्वीयत्वाभिमानं च त्यक्त्वा केवलमीश्वर-

१ ख. 'णाऽऽप्तमिपं' । २ क. ख. 'तं मो' । ३ क. ख. 'वामिथ्या' । ४ क. ख. 'शेनं नेह' । ५ क. 'स्यात्त्वम' । ६ क. ख. 'त्माप्रत्य' । ७ ख. 'मन्दान्' । ८ ख. 'पि स्वयं का' । ९ ख. 'द्विरह' । १० क. ख. 'मानममताबुद्धिरह' ।

प्रीत्यर्थमनुष्ठानं तत्कुर्वन्परां गतिं मोक्षमवाप्नुयात् । मदनुग्रहाज्जातेन ज्ञानेन निरस्ताविद्यः कूटस्थात्मभावेन वर्तत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

एतदेव स्तौति—

अनीर्ष्यन्तो भक्तिमन्तो ये मयोक्तमिदं शुभम् ।

अनुतिष्ठन्ति ये सर्वे मुक्तास्तेऽखिलकर्मभिः ॥ ३१ ॥

ईर्ष्या बहुवित्तव्ययायाससाध्ये यज्ञादौ हेमन्ते प्रातःस्नानादौ च स्वदुःखहेतुत्वात्मद्वेषत्वात्सर्वं नेर्ष्यन्तो वेदमार्गे भक्त्यभावादादररहिताः । तद्विपरीतास्तु तत्प्रतीर्ष्यन्तो भक्तिमन्तश्च ये मयेश्वरेणोक्तमिदं मदर्पणं कुर्वन्तीति शेषः । द्विविधं हि करणं भक्तिमतां मानसं यज्ञानुष्ठानमितरेषां तु क्रियामयमनुष्ठानं ततश्च ये भक्तिमन्तो ये च क्रियावन्तो भक्तिमयं क्रियामयं वा यज्ञं कुर्वन्ति ते सर्वेऽप्यखिलकर्मभिः सर्वैः कर्मभिर्मुक्ता भवन्ति । तथा च श्रूयते यज्वनामुपासकानां च तुल्यं क्रतुफलं दृष्टं बृहदारण्यके “तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद ” इति । वेदेति । अस्योपास्त इत्यर्थः । तथा च मन्त्रवर्णोऽपि भ्रात्रा कूपे प्रक्षितस्य त्रितस्य मनोमयं यज्ञं दर्शयति “त्रितः कूपेऽवाहितो देवान्हवत ऊतये” ( ऋ० १।७।२३ ) इति । हवत आह्वयत ऊतये सोमपानादिकर्मार्थम् । उपबृंहितं चैतद्भारते वनपर्वणि त्रितकूपो पाख्याने ॥ ३१ ॥

तदकरणे दोषमाह—

ये चैव नानुतिष्ठन्ति अशुभा हतचेतसः ।

ईर्ष्यमाणान्महामूढान्नष्टांस्तान्विद्धि मे रिपून् ॥ ३२ ॥

ये च पुरुषा एवमुक्तप्रकारं कर्माऽऽलस्यान्नास्तिक्याद्वा नानुतिष्ठन्ति नाऽऽचरन्ति यस्मादशुभा नास्ति शुभं कल्याणकरं पुण्यं येषां ते, अशुभाः । त आलस्यात्कर्मसु न प्रवर्तन्ते ये च हतचेतसो ये च पापातिशयान्नष्टचित्तास्ते नास्ति परलोक इति बुद्ध्याऽऽमुष्मिकफलं कर्म नानुतिष्ठन्तीति ये चेति चकारेण सूच्यते । ये च, अशुभा ये च हतचेतस इति योजना । यतोऽशुभा अत ईर्ष्यमाणाः । ईर्ष्या पूर्वोक्तां द्वेषबुद्धिं कुर्वन्ति, ईर्ष्यमाणाः । यस्मान्द्वतचेतसोऽतो महामन्दाः । तानु-

भयान्नष्टावबोधेन तिर्यक्स्थावरादिमूढयोनिप्राप्तान्नष्टप्रायान्मे मम शास्त्र-  
कर्तुः । रिपूञ्शत्रून्विद्धि जानीहि । तथा च स्मर्यते—

श्रुतिस्मृती ममैऽऽवाज्ञे यस्ते उलङ्घ्य वर्तते ।

आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी नरकं प्रतिपद्यते ॥ इति ॥ ३२ ॥

ननु यदि स्वातन्त्र्यात्पुरुषः कर्माणि कुर्वन्नकुर्वंश्च गुणदोषभागभवति  
तर्ह्यन्तर्यामिब्राह्मणमनर्थकं स्यात् । यदि तु तदेव प्रमाणं तर्ह्यस्वतन्त्र-  
पुरुषो न कर्मजौ गुणदोषाववाप्नोतीत्याशङ्क्यानीश्वरसांख्यमतमालम्ब्य  
परिहरति—

तुल्यं प्रकृत्या कुरुते कर्म यज्ज्ञानवानपि ।

अनुयाति च तामेव ग्रहस्तत्र मुधा मतः ॥ ३३ ॥

ज्ञानवानपि ज्ञानम्, आत्मानात्मविवेकः, तत्त्वपुरुषान्यताख्यात्यपर-  
नामा तद्वानपि पुरुषो यद्यस्माद्धेतोः प्रकृत्या तुल्यमेव कुरुते यस्य  
पुरुषस्य या प्रकृतिः स्वभावः सात्त्विको राजसस्तामसो वा पूर्वपूर्वक-  
र्मजः संस्कारः प्रकृतिस्तया तुल्यं कर्म कुरुते । तत्र धर्मव्याधतुलाधारा-  
दयो ज्ञानवन्तोऽपि व्याधवाणिजाद्युचितमेव कर्म कुर्वन्ति । एवं कर्कटी  
नाम राक्षसी ज्ञानवत्यपि स्वयोनिस्वभावान्मनुष्यमांसैरेव जीविकां  
करोतीति वासिष्ठ उपाख्यायते, तस्मात्प्रकृतिरेव बलीयसी न तत्रेश्वरे-  
च्छायाः पुरुषेच्छाया वा कश्चिद्विषयोऽस्ति । यथा वटाश्वत्थादिबीजं  
साधारणैस्तेजोबलैरापूरितं प्रकृतिस्वभावाद्बटाङ्कुरमेव वाऽश्वत्थाङ्कुरमेव  
वा तत्तद्बीजशक्तिभेदाज्जनयति । एवं न तदन्यत्प्रथयितुं शिल्पिशते-  
नापि शक्यते । चशब्दो हेत्वर्थे, यस्मात्पुरुषस्तामेव प्रकृतिमेवानुयाति  
सदसत्कर्मविषयेऽनुयात्यनुसरति तस्मात्तत्र कर्माणि ग्रहः, इदमेव कर्म  
करिष्यामीदं न करिष्यामीतिनिर्बन्धो मुधा मतः । अज्ञानादेव मूढाना-  
मभिमत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

नन्वेवं पुंसां प्रकृत्यनुवर्तित्वेनास्वातन्त्र्येण विधिनिषेधशास्त्रं दत्तज-  
लाञ्जलि स्यादित्याशङ्क्य मतान्तरमाह—

कामश्चैव तथा क्रोधः खानामर्थेषु जायते ।

नैतयोर्वश्यतां यायादस्य विध्वंसकौ यतः ॥ ३४ ॥

खानामिन्द्रियाणामर्थेषु विषयेषु रुच्यन्नपानादिविन्द्रियगोचरतामा-  
पन्नेषु कामः, इदं मे भूयादित्यभिलाषो जायते स च कामः केनचिन्निमि-  
त्तेन प्रतिहतश्चेत्क्रोधरूपेण परिणमते, तस्मादिच्छाद्वेषादिधर्मवानात्मा  
कर्ता भोक्ता च भवतीति तमेवेश्वराज्ञारूपौ विधिनिषेधावगाहतः ।  
तस्मात्पुरुषः सदेवाहं कर्म करोम्यसन्मुञ्चामीत्याग्रहं कुर्यादेवेत्यर्थः ।  
यस्मादेवं तस्मात्पुरुष एतयोः कामक्रोधयोर्वश्यतामधीनतां न यायान्न  
गच्छेत् । यतो यस्मादस्य पुरुषस्य कामक्रोधौ विध्वंसकौ पुरुषार्थना-  
शकौ तस्मात्तौ जेतव्यावेवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

ततः किमत्यत आह—

शस्तोऽगुणो निजो धर्मः साङ्गादन्यस्य धर्मतः ।

निजे तस्मिन्मृतिः श्रेयोऽपरत्र भयदः परः ॥ ३५ ॥

निजः स्वकीयः । अगुणो गुणरहितोऽपि धर्मः शस्तः प्रशस्तः ।  
अन्यस्य परस्य धर्मतो धर्मात्साङ्गादविकलाच्छस्तः । वृत्तिकर्षितस्य  
ब्राह्मणस्य राहूपरागे सतीर्थेऽपि प्रतिग्रहो जीवनमात्रार्थिनः शस्तः  
स्वधर्मात् । धर्मोपेतमपि वाणिज्यमप्रशस्तं परधर्मत्वात् । एतदेव  
द्रढयति—निज इति । निजे स्वीये तस्मिन्धर्मे मृतिर्मरणं श्रेयः स्वर्गा-  
दिमहाफलप्रदं भवतीति । परः परधर्मः । अपरत्र परलोके भयप्रदो भयं  
नरकादिभयं ददातीति । परधर्माचरणं तदेव ब्राह्मणस्य दुर्मरणं नरक-  
प्रदं भवतीति ॥ ३५ ॥

अत्र ननु “एष ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत  
एष ह्येवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषते” । ( का० ३।८ )

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेच्छुभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥

इतीश्वरवादे प्रकृतिवादे चास्वतन्त्रस्य विधिनिषेधावनर्थकौ स्वतन्त्र-  
वादे च तत्संभव इति परस्परविरोधान्निर्णयं बुभुत्सुर्वरेण्य उवाच—

पुमान्यत्कुरुते पापं स हि केन नियुज्यते ।

अकाङ्क्षन्नपि हेरम्ब प्रेरितः प्रबलादिव ॥ ३६ ॥

हि प्रसिद्धं पुमान्पुरुषो यत्पापं पारदार्यस्तेयहिंसादिकं कुरुते तत्र केन नियुज्यते । ईश्वरपक्ष ईश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येते । स्वभावपक्षे चान्यस्यान्यात्मताया असंभवः । न हि वटबीजस्याश्वत्थाङ्कुरोत्पादकत्वं संभवत्यतो विशेषहेतुर्वक्तव्यः । अकाङ्क्षन्नपि, अनिच्छन्नपि प्रबलाद्वा-  
प्यादेस्तृणपर्णादिकमिव प्रयुक्तं प्रवर्तते । एवमयं पुरुषः केनासाधारणेन निमित्तेन प्रवर्तत इति प्रश्नः । हेरम्बेति संबोधयन्नेतत्सूचयति । हर्य गति-  
कान्त्योरित्यस्मान्द्वयतेः कन्यन्हिर चेति कन्यन्प्रत्यये धातोर्हिंरादेशो दृष्टः  
स एव बाहुलकादम्बच्प्रत्ययेऽपि क्रियते हर्यतिरन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् ।  
हर्यतीच्छां जनयतीति हेरम्ब बुद्धिप्रवर्तकेत्यर्थः । अनेनान्तर्यामिपक्षस्य  
श्रेष्ठ्यं सूचितम् ॥ ३६ ॥

अत्रोत्तरं गजानन उवाच—

कामक्रोधौ महापापौ गुणद्वयसमुद्भवौ ।

नयन्तौ वश्यतां लोकं विद्ध्येतौ द्वेषिणौ वरौ ॥ ३७ ॥

कामक्रोधौ लोकं पापे प्रवर्तयत इति पूर्वश्लोकाद्विपरिणामेनानुषङ्ग-  
नीयम् । तत्र कामो रजोगुणप्रभव इदं मे भूयादितिच्छा । तेन प्रवर्ति-  
तस्य केनचिन्निमित्तेन प्रतीयते यश्चित्तस्य क्षोभः सोऽभिज्वल-  
नात्मा मोहहेतुस्तमोगुणविकारः । तावेतौ कामक्रोधौ महान्तौ दुर्जय-  
त्वात् । पापौ परदारपरद्रोहादिकपापहेतुत्वात् । अतः क्रमेण रजस्त-  
मोगुणाभ्यां समुद्भवौ ययोस्तावेतौ लोकं मनुष्यपश्वादीन्वश्यतां  
स्वाधीनतां नयन्तौ, एतौ पूर्वोक्तौ वरौ श्रेष्ठौ द्वेषिणौ शत्रून्विद्धि  
जानीहि । पुरुषं पापे प्रवर्तयन्तावक्ष्यदुःखहेतू भवत इत्यर्थः । अयं  
भावः—पर्जन्यवदीश्वरः साधारणं कारणम् । असाधारणानि तु कारणानि  
तत्तद्बीजशक्तिव्यतिपुरुषं भिन्नानि । तैतः श्रेयः कामादीञ्जित्वा  
सत्कर्माणि करोति । एवं पक्षान्तरेऽपि । तथा च पारमर्षसूत्रम्—  
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य इति । विधिनिषेधशास्त्र-  
मनर्थकं मा भूदिति पुरुषाणां स्वातन्त्र्यमवश्यं वक्तव्यम् । ततश्च तैः



पूर्वस्मिञ्जन्मनि यत्कृतं पुण्यपापादिकं तदपेक्षयेश्वरस्तान्साधून्यसाधूनि वा कर्माणि रोचयित्वा तत्र प्रवर्तयति । यथोक्तं भारते—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।

यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम् ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवंम् ।

बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽर्वाचीनानि पश्यति ॥ इति ।

एतदेवेश्वरस्यान्तर्यामित्वमन्तः स्थित्वा नियन्तृत्वं साधून्यसाधूनि वा कर्मणि पुंसां रुच्युत्पादनम् । प्रकृतेरप्यन्यथात्वं पुंसां स्वातन्त्र्यादेव युज्यते दृष्टं हि द्वाग्निदग्धानां चित्रे बीजानां कदलीकाण्डरूपेण च प्ररोहणं तस्माज्जीवानां प्रारब्धकर्मभोगादावेव पारतन्त्र्यं यज्ञादौ स्वातन्त्र्यमिति यथादृष्टमुन्नेयम् ॥ ३७ ॥

कामक्रोधयोः केन प्रकारेण पापहेतुत्वं तदाह—

आवृणोति यथा माया जगद्वाष्पो जलं यथा ।

वर्षामेधो यथा भानुं तद्वत्कामोऽखिलांश्च रुद्र ॥ ३८ ॥

गच्छतीति जगत्, चेतनाचेतनं विश्वं, माया, ऐन्द्रजालिकप्रयुक्ता यथाऽऽवृणोति । दृष्टं हि लोक ऐन्द्रजालिका महति जलार्णवे चतुरङ्गसेनोपेतां महतीं स्थलीं सृजन्ति । एवं भूमावेव महान्तं समुद्रं महोर्मिमालाकुलं नौकाशतसंकुलं दर्शयन्ति । तत्राचेतनस्याऽऽवरणं चेतनस्य दृष्टिबन्धनं च यथा दृश्यत एवं कामः रूपादेरनर्थहेतुत्वं पिधाय सुखकरत्वप्रदर्शनेनाखिलाञ्जन्तूनावृणोति । तथा च पारमर्षसूत्रं 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायेनानन्तरापायादपवर्गः' इति । मिथ्याज्ञानं हि रागादिदोषोत्पादनद्वारा पुरुषं पुण्ये पापे वा प्रवर्तयति ततः कर्मानुरूपं जन्म दुःखभोगायतनं लभते । अतो नष्टे मिथ्याज्ञाने दोषाभावात्प्रवृत्त्यभावः प्रवृत्त्यभावाज्जन्माभावः । जन्माभावादुदुःखाभावो मोक्षः सर्वस्य मूलं मिथ्याज्ञानं तु तत्त्वज्ञानादेव नश्यतीति सूत्रार्थः । बाष्प ऊष्मधूमिका तत्सादृश्यान्नीहारं गिरिनदिसमुद्रावरकं बाष्पपदेनोच्यते । तेन जनदृष्टिमावृण्वता यथा नद्यादिकं प्रच्छाद्यते । तथा च

वर्षाभेदेन सूर्यः प्रच्छाद्यते । एवं कामेन \*जनदृष्टिपिदधानेन प्रथमामावृ-  
णोति(?) तथा रुद्र रोषः क्रोधः सोऽपि । चकारः पश्चादर्थे सोऽप्यखिला-  
नावृणोतीति तयोः पौर्वापर्यमुक्तम् ॥ ३८ ॥

कामस्यानर्थहेतुत्वं विवृणोति—

प्रतिपत्तिमतो ज्ञानं छादितं सततं द्विषा ।

इच्छात्मकेन तरसा दुष्पोष्येण च शुष्मिणा ॥ ३९ ॥

पूर्वश्लोकाद्विपरिणामेन कामपदमनुषञ्जनीयम् । प्रतिपत्तिमतः, चेत-  
नावतः पुरुषस्य ज्ञानमारोपितज्ञानैकरसस्वरूपम् । सततमनादिकाल-  
मारभ्य द्विषा कामरूपेण शत्रुणा छादितं तिरस्कृतम् । इच्छात्मकेन,  
इदं मे भूयादित्यभिलाष इच्छा तदात्मकेन तरसा वेगवता क्षणात्पुरुषं  
वशी करोतीत्यर्थः । दुष्पोष्येण दुःखेनापि पोषयितुमशक्येन विषयकोट्य-  
र्पणेनापि न तृप्यतीत्यर्थः । शुष्मिणा बलवता विषयार्जनबलात्पुरुषं  
प्रवर्तयतेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

कामो ज्ञानमाच्छाद्य किं करोतीत्यपेक्षायामाह ।

आश्रित्य बुद्धिमनसी इन्द्रियाणि स तिष्ठति ।

तैरेवाऽऽच्छादितप्रज्ञो ज्ञानिनं मोहयत्यसौ ॥ ४० ॥

असौ कामो बुद्धिमनसी इन्द्रियाणि चाऽऽश्रित्य तिष्ठति तैरेव  
बुद्ध्यादिभिर्बहिर्मुखैराच्छादिता प्रज्ञा तत्त्वज्ञानं येन सः प्रज्ञामाच्छाद्ये-  
त्यर्थः । ज्ञानिनं परोक्षप्रज्ञावन्तम्, असौ कामो मोहयति विषयप्रवणं  
करोतीत्यर्थः । किमुताज्ञमित्यर्थः । अन्तर्मुखेषु हि बुद्ध्यादिषु पुरुषस्तमो  
निवर्त्य स्वात्मसुखमनुभवति । बहिर्मुखेषु बाह्यस्पर्शानुभवात्सुखदुःखे अनु-  
भवति । यथोक्तम्—

तव रूपमेव तव दुःखकरं यदि ते न पश्यसि बहिर्मुखतः ।

तव रूपमेव तव तृप्तिकरं यदि तत्प्रपश्यसि निवर्त्य तमः ॥ इति ॥ ४० ॥

तस्मान्नियम्य तान्यादौ समनांसि नरो जयेत् ।

ज्ञानविज्ञानयोः शान्तिकरं पापं मनोमवमम् ॥ ४१ ॥

यस्माद्बुद्ध्यादिना पुरा कामः पुरुषं मोहयति तस्मात्सर्वानर्थमूलानि  
तानि बुद्ध्यादीनि, आदौ मरणादेः प्रागेव नियम्य स्वस्वविषयभ्यो

\* इतः परमयं ग्रन्थो घ. पुस्तके—पिदया आन्यतो जलवदैकरस्य सूर्यवत्प्रकाशात्मकत्वं  
चाऽऽच्छाद्य तद्वन्मायाबाष्पमेषवत्कामोऽखिलाञ्जनान्विवेकदृष्टि—

व्यावर्त्य यमनियमासनप्राणायामपूर्वकं प्रत्याहारं कृत्वेत्यर्थः । अन्याहृते-  
ष्वपीन्द्रियेषु योगी मनसैव सर्वान्विषयान्स्मरन्बहिर्मुखो मा भूदिति सम-  
नांसि, तानि जयेदित्युक्तम् । तत्र बुद्ध्यादीनां स्वस्वविषयवैमुख्यं प्रत्या-  
हारः । वस्तुन्यवस्थापनं जय इति भेदः । ततश्च मनोभवं काममपि  
मनोजयेन च जयेदिति योज्यं, कीदृशं कामं ज्ञानविज्ञानयोः शान्ति-  
करं, ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजा प्रज्ञा, विज्ञानं प्रज्ञातस्यार्थस्यानुभवः ।  
तयोः शान्तिरिव शान्तिरात्यन्तिक उपरम उच्छेद इति यावत् । तस्य  
कर्तारं शान्तिकरम् । अत एव पापं सर्वानर्थमूलत्वेन दुरन्तनरकादि-  
प्रापकमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

काममेव सर्वानर्थनिदानं जित्वा कृतकृत्यो भवतीत्याशयेनाऽऽह-  
यतस्तानि पराण्याहुस्तेभ्यश्च परमं मनः ।

ततोऽपि हि परा बुद्धिरात्मा बुद्धेः परो मतः ॥ ४२ ॥

एति गच्छति नश्यतीति यन्, अनित्यः पुत्रदारवित्तादिरर्थगणस्त-  
स्माद्यतः । तानि, इन्द्रियाणि पराण्याहुः सूक्ष्माणि वदन्ति पुत्रदारवि-  
त्ताद्यर्थगणनियमनापेक्षयेन्द्रियनियमनं दुष्करमित्यर्थः । तेभ्य इन्द्रि-  
येभ्यः, अत्रेदमर्थाकाराऽन्तःकरणवृत्तिर्मन इत्युच्यते । ततोऽपि मनसोऽपि ।  
हि प्रसिद्धं, बुद्धिरहमाकाराऽन्तःकरणवृत्तिः परा श्रेष्ठा । इदंकारार्थ-  
लोकापेक्षयाऽहंकारार्थत्यागो दुष्करतर इत्यर्थः । आत्मा शोधिततत्त्वं-  
पदार्थः । बुद्धेरहंकारादपि परः सूक्ष्मतमो मतः अहंकारत्यागापेक्षया  
निर्विकल्पेन निरस्ताक्ष्मी ( स्मिते ) तिप्रत्ययेन चिदेकरसात्मनाऽवस्था-  
नमत्यन्तदुर्लभमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

ततश्च किमित्यतआह-

बुद्धैवमात्मनाऽऽत्मानं संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।

हत्वा शत्रुं कामरूपं परं पदमवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृतार्थ-  
शास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरे-  
ण्यसंवादे सांख्यसाराथयोगो नाम  
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

एवमुक्तक्रमेण आत्मनाऽन्तःकरणेनाऽऽत्मानं चिदेकरसं बुद्ध्वाऽऽत्मानमनुभूय । कथं बुद्ध्वेत्यत आह संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मनेति । आत्मना बुद्ध्वा, आत्मानं मनः संस्तभ्य नियम्य बुद्ध्यैव मनोवृत्तिमात्मसात्कृत्येदमर्थत्यागेनास्मितामात्रेण रूपेणावस्थाय । तस्मिन्नपि लवणोदकन्यायेनाऽऽत्मनि प्रलीने सति काममूलानां विषयवासनानां निर्विकल्पसमाध्यभ्यासदार्ढ्येनोच्छेदे सति तन्मूलकस्य कामस्योच्छेदो भवतीत्यभिसंधायाऽऽह—हत्वा शत्रुं कामरूपं परं पदमवाप्नुयादिति । तथा च श्रुतिः—“अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते” ( बृ० ४।४।७ ) इति ॥ ४३ ॥

श्रीचातुर्धरभणितौ गणेशगीता-

टीकायां गणपतिभावदीपिकायाम् ।

गम्भीरप्रतप्तसदर्थदर्शिकाया—

मध्यायः स्फुटहृदयोऽभवद्द्वितीयः ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्द-  
सूरिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां गणपति-  
भावदीपिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

यतस्तानि पराण्याहुरिति श्लोकद्वयेन यो योगः संक्षेपेणोक्तस्तत्र श्रद्धामुत्पादयितुं तस्य वेदमूलत्वेनानादिपरम्पराप्राप्तत्वं विवृण्वञ्छ्री-  
गजानन उवाच—

पुरा सर्गादिसमये त्रैगुण्यं त्रितनूरुहम् ।

निर्माय चैतमवदं विष्णवे योगमुत्तमम् ॥ १ ॥

भूतान्यत्ववादिनां भौतिकसृष्टेः पूर्वत्वं मा भूदित्याकाशादिसृष्टिवादिनां तत्सृष्टेः पूर्वत्वं मा भूदित्येवमर्थं पुरेति सर्गादिसमय इति च । कालद्वयात्पूर्वं त्रैगुण्यस्य गुणत्रयसमूहैरूपस्याव्यक्तस्य निर्मायेत्यनेनोत्पत्तिरुच्यते । एतदेव परमव्योमशब्देनाव्यक्तादिशब्दैश्चोच्यते, तत्र “तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम” इति । “अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सं-

१ क. ख. ‘धन्यायेना’ । २ क. ‘वाप्यस्थि’ । ख. ‘वाप्यस्थितिरयमर्थोम’ । ३ ख. ‘तानि महत्वादि’ । ४ ख. ‘हस्य नि’ ।

प्रलीयते” इति च तस्योत्पत्तिप्रलयौ स्मर्येते । एवं यो व्योमापरो यदि भूत-  
भौतिकसृष्टेः प्राक्परव्योमाख्यस्य तस्योभावश्रवणेनोत्पत्तिप्रलयभाक्त्वं  
गम्यते । त्रैगुण्यं विशिनष्टि-त्रितनूरुहमिति । त्रीणि तनूरुहवत्केशवत्का-  
र्याणि प्रकाशप्रवृत्तिनियमाख्यानि यस्य तत्रितनूरुहम् । सर्वं ह्याकाशादिकं  
वस्तु सत्त्वांशेन प्रकाशते रजोऽंशेन वायुवत्प्रवर्तते तमोऽंशेन क्षित्यादिवज्जडी  
भवति । अतः कार्ये प्रकाशकप्रवृत्तिनियमानां दर्शनात्कारणमप्यनभिव्यक्त-  
सत्त्वरजस्तमोमयं सिध्यति । तदेवं सविलासमज्ञानं बन्धकारणमुत्पाद्य  
तन्निवृत्त्युपायं चैतं पूर्वसूचितं योगं पूर्वस्य पूर्वस्य परस्मिन्परस्मिन्प्र-  
विलापनं विष्णव आदिगुरवे, अवदमुक्तवानस्मि वेदमुखेन । तथा च  
श्रुतिः-“ सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परमं पदम् ” ( क० ३।६ )  
इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं योगं  
दर्शयति-

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेच्छान्त आत्मनि ( क० ३।१३ ) इति ।

एतदुक्तं भवति-वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत  
मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विषयदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदिताया-  
मध्यवसायस्वभावायां बुद्धौ धारयेत्तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तृर्य-  
स्मितामात्रदर्शिनि धारयेत्तमपि भोक्तारं शान्ते परस्मिन्नकरणवति ज्ञातु-  
ज्ञेयविभागशून्ये परस्यां काष्ठायां धारयेदिति ॥ १ ॥

अस्यां विद्याया वंशमाह-

अर्यम्णे सोऽब्रवीत्सोऽपि मनवे निजसूनवे ।

ततः परम्परायातं विदुरेतं महर्षयः ॥ २ ॥

सोऽपि विष्णुरप्यर्यम्णे सूर्यायाब्रवीदुक्तवान् । इमं योगमित्यनुष-  
ञ्जनीयं सर्वत्र, सोऽपि सूर्योऽपि मनव एतन्नामकाय निजसूनवे स्वपुत्राय  
योगमब्रवीत् । ततो मनोः सकाशाच्छिष्याचार्यपरम्परयाऽऽगतमेतं योगं  
महर्षयो वसिष्ठाद्या विदुर्जानन्ति ॥ २ ॥

कालेन बहुना चायं नष्टः स्याच्चरमे युगे ।

अश्रद्धेयो ह्यविश्वस्यो विगीतव्यश्च भूमिप ॥ ३ ॥

ततश्च कालेन त्रेताद्वापरकलिषु धर्मस्यैकैकश्वरणो हीयते ततश्च

धर्मोच्छेदादयं योगाख्यः परमो धर्मो हीयते चरमे युगे कलियुगस्यान्ते तु सर्वथा नष्ट उच्छिन्नः स्याद्भवति । नाशे हेतुमाह—अश्रद्धेयः, गुरुवेदवाक्यादिषु फलावश्यंभावनिश्रयः श्रद्धा, तथा निर्वृत्तः श्रद्धेयस्तद्विपरीतोऽश्रद्धेयः । सत्यपि संप्रदायप्रवर्तके गुरौ शिष्याणां श्रद्धाराहित्यमेवमुच्छेदकारणम् । दृष्टफलेषु कारीर्यादिषु च काश्चेच्छ्रद्धया प्रवृत्तोऽपि फलस्यास्मिञ्जन्मन्यवश्यंभावानिश्रयादविश्वास्यो विश्वासानर्हः । विगीतव्यश्च बकवद्वृथैव परवञ्चनार्थं ध्यायतीति विगीतव्यो निन्द्यश्चायं हे भूमिप ॥ ३ ॥

एवं योगनाशे कारणत्रयमुक्त्वा तत्प्रवृत्तौ त्वहमेव कारणमित्याह—

एतं पुराभवं योगं श्रुतवानसि मन्मुखात् ।

गुह्याद्गुह्यतमं वेदरहस्यं परमं शुभम् ॥ ४ ॥

एतं पुरोक्तं पुराभवं वेदबोधितत्वेनानादिं मन्मुखाच्छ्रुतवानसि । एतमेव स्तौति—गुह्याद्गुह्यतमम् । ऐहिकं हितं गुह्यम्, आमुष्मिकं गुह्यतरम्, आत्यन्तिकं हितं गुह्यतमम् । अत एव वेदस्य रहस्यम् । रहस्यमपि दिव्यौषधादिकमल्पफलं स्यात् । अतः परमं सर्वोत्कृष्टं तस्यापि क्षयित्वेनाशुभत्वमस्तीत्यत आह—शुभमिति । आत्यन्तिककल्याणमित्यर्थः ॥ ४ ॥

गणपतिविग्रहस्य सूर्यवद्दर्शनादर्शने एवोदयास्तमयावित्यजानन्वरेण्य उवाच—

सांप्रतं चावतीर्णोऽसि गर्भतस्त्वं गजानन ।

प्रोक्तवान्कथमेतं त्वं विष्णवे योगमुत्तमम् ॥ ५ ॥

हे गजानन त्वं सांप्रतं चेदानीमेव गर्भतो मातुर्गर्भाशयादवतीर्णोऽस्याविर्भूतोऽसि । एवं सति कल्पादावाविर्भूतात्सूर्यादपि प्राक्सिद्धाय विष्णवे एतं योगं प्रोक्तवानसीति कथं श्रद्धेयं कीदृशमुत्तमं कैवल्यकाणत्वात् ॥ ५ ॥

स्वविग्रहस्यानाद्यनन्तत्वं दर्शयञ्श्रीगजानन उवाच—

अनेकानि च ते जन्मान्यतीतानि ममापि च ।

संस्मरे तानि सर्वाणि न स्मृतिस्तव वर्तते ॥ ६ ॥

हे वरेण्य ते तव मम चानेकानि जन्मानि शरीरग्रहणान्यतीतान्यतिक्रान्तानि तानि सर्वाण्यलुप्तदृक्शक्तिर्मायामृगीनर्तकः संस्मरे

सम्यक्स्मरामि । तव तु कर्मजैर्देहैः प्रमुषितप्राग्भवीयज्ञानस्य स्मरणं न वर्तते । एतेन स्वस्य कञ्चुकात्कञ्चुकान्तरवदप्रमुषितज्ञानस्यैव शरीरान्तरप्रवेशो न देहे तादात्म्याध्यासो ममास्तीति भावो दर्शितः । अत्रोक्तं वासिष्ठे—

अनागतमतीतं च निमेषः कल्प इत्यपि ।

तथा दुरमदूरं च भविष्यत्स्थूलमण्वपि ।

चिदात्मनि स्थितान्येव पश्य मायाविम्बिभ्रतम् ॥ इति ॥

अनेन यदा सर्वं सर्वावस्थं सर्वदा मायायां दृश्यते तदा मायाप्रयोक्तुर्विग्रहस्य नित्यत्वं कैमुतिकन्यायसिद्धम् । अत एवोक्तं मार्कण्डेयपुराणे—

देवानां कार्यसिद्धयर्थमाविर्भवति सा यदा ।

उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याऽप्यभिधीयते ॥ इति ।

मम सूर्यवदाविर्भावतिरोभावौ तव तु घटादिवदित्यावयोर्विशेषः ॥६॥

मत्त एव महाबाहो जाता विष्णवादयः सुराः ।

मय्येव च लयं यान्ति प्रलयेषु युगे युगे ॥ ७ ॥

अत एव मम विष्णवादिभ्यः पूर्वसिद्धत्वान्मत्तो मायास्रष्टुरनादिविग्रहाद्विष्णवादयो मायांशोपाधयो देवा जाताः । तथा हि मम माया सत्त्वांशेन विष्णुं पालयितारं सृजति रजोंशेन ब्रह्माणं स्रष्टारं तमोंशेन संहर्तारं रुद्रं च सृजति । त्रयाणामप्यंशैः समस्तैस्तुरीयमूर्तिं च सृजति तां शैवाः शिव इति वैष्णवा विष्णुरिति गाणेशा गणपतिरिति शाक्ताः शक्तिरिति सौराः सूर्य इति चाऽऽचक्षते । तथा मय्येव मायायाः संहर्तारि लयं यान्ति मायाप्रलयेन प्रलयं च गच्छन्ति प्रलयकालेषु । युगे युगे, युगशब्देनात्र वियदादिप्रारब्धप्रलयान्तरालकाल उच्यते । यदा तु युगशब्देन कृतत्रेताद्वापरकलय उच्यन्ते तदा पुरुष एव युगशब्दवाच्यः । तथा च श्रूयते—

“कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।

उत्तिष्ठन्नेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ” ( ऐ०ब्रा०३३।३ ) इति ।

अस्यार्थः—कार्याकार्यविवेकशून्यो मोहान्धकारमग्नः शयानः पुरुषः कलिरुच्यते, संजिहानो जाग्रत्किञ्चिद्विवेकदर्शी द्वापरः । उत्तिष्ठन्कर्तव्या-

कर्तव्यविचारपूर्वकं यो यत्नं करोति स त्रेता स एव चरंस्तत्तद्विज्ञानपूर्वकं कर्मयोगं ध्यानयोगं वाऽनुतिष्ठन्पुरुष एव कृताख्यं भवति । एवं च सर्वेष्वपि युगेषु चतुर्विधाः पुरुषाः संभवन्ति । अतः सर्वस्मिन्नपि युगे ज्ञानमार्गोऽस्त्येवातो योगस्याऽऽत्यन्तिक उच्छेदः कदाचिदपि नास्ति । अवमपुरुषाभिप्रायेण तु सर्वदैवास्त्येतदभिप्रायेण चरमे युगे योगो नष्ट इत्येतद्व्याख्येयम् ॥ ७ ॥

विष्णवादीनां स्वप्रभवत्वात्स्वाभिन्नत्वमेवाऽऽह—

अहमेवापरो ब्रह्मा महारुद्रोऽहमेव च ।

अहमेव जगत्सर्वं स्थावरं जङ्गमं च यत् ॥ ८ ॥

अपरश्चतुर्मुखाच्छ्रेष्ठः । हिरण्यगर्भोऽत्र ब्रह्मा । महारुद्रो महाप्रलयं प्राप्यमव्याकृतं तद्वेद(?) तर्ह्यव्याकृतमासीदित्यादिश्रुतिप्रसिद्धम् । समष्ट्यानन्दमयाख्यं शेषं स्पष्टम् ॥ ८ ॥

एवमात्मनः सामान्यतः सार्वार्त्म्यमुक्त्वा मत्स्यकूर्मादीन्स्वस्य विशेषावतारानप्याह—

अजोऽव्ययोऽहं भूतात्माऽनादिरीश्वर एव च ।

आस्थाय त्रिगुणां मायां भवामि बहुयोनिषु ॥ ९ ॥

अज उत्पत्तिरहितः । अव्ययोऽपक्षयशून्यः । अहं भूतात्मा नित्यसत्यसिद्धस्वरूपतः । अनादिर्नास्त्यादिः कारणं यस्य स अनादिः कारणशून्यत्वादजः । अन्यथा तस्य तस्यान्यदन्यत्कारणमित्यनवस्था स्यात् । ईश्वरोऽन्तर्यामी । एव चेति पादपूरणौ । त्रिगुणां सत्त्वरजस्तमोगुणमयीम् । मायामविद्याशक्तिम् । आस्थायाऽऽलम्ब्य भवाभ्याविर्मवामि । बहुयोनिषु मत्स्यकूर्मैरीभैरालादिषु । शेषं स्पष्टम् ॥ ९ ॥

कदाऽऽविर्भवसीत्यपेक्षायामाह—

अधर्मोपचयो धर्मोपचयो हि यदा भवेत् ।

साधून्संरक्षितुं दुष्टांस्तानतुं संभवाम्यहम् ॥ १० ॥

अधर्मोपचयः पापवृद्धिः । धर्मोपचयः पुण्यह्रासः । हिशब्दश्चार्थं तद्द्वयं यदा भवति तदाऽहं साधून्धर्मानुष्ठातृन्संरक्षितुं सम्यक्पालयितुं



तथा दुष्टानधर्मरतान्तुं ग्रसितुं संभवाभ्यवतारान्गृह्णामि । अधर्मो-  
च्छेदो धर्मस्थापनं च मदवतारप्रयोजनमित्यर्थः ॥ १० ॥

एतदेव स्पष्टयति—

उच्छिद्याधर्मनिचयं धर्मं संस्थापयामि च ।

हन्मि दुष्टांश्च दैत्यांश्च नानालीलाकरो मुदा ॥ ११ ॥

अधर्मनिचयं परदारपरद्रव्यपरद्रोहादिरूपमधर्मं कुर्वतां खलानां  
निचयं समूहमुच्छिद्योत्कर्षेण च्छित्त्वा समूलमुत्साद्येत्यर्थः । धर्मं यज्ञदाना-  
द्यनुष्ठानमार्गं शमदमाद्युपेतं संस्थापयामि सम्यक्सुप्रतिष्ठितं करोमि ।  
चकारः समुच्चये । धर्मप्रतिष्ठाहेतुतया खलानामुच्छेदः पूर्वमनुष्ठेय इत्याह—  
हन्मि दुष्टांश्च दैत्यांश्चेति । दुष्टाः सत्कुलजा अधर्मकर्तारः । दैत्या  
म्लेच्छपाषण्डादयो वेदविद्वेष्टारः । तान्सर्वान्हन्मि ततश्च नानालीला  
धर्ममार्गरोचकानि चरितानि गुरुदेवताभिभजनानि तेषां कर्ता मुदा  
हर्षेण । यथा शिबिरौशीनरः शरणागतं कपोतं रक्षितुं श्येनाय स्वमां-  
सान्युत्कृत्य हर्षेण ददौ न क्लेशेन तद्वत् ॥ ११ ॥

अवतारप्रयोजनमधर्मनोपसंहृत्य तज्ज्ञानप्रयोजनं च सार्धेनाऽऽह—

वर्णाश्रमान्मुनीन्साधून्पालये बहुरूपधृत् ।

एवं यो वेत्ति संभूतीर्मम दिव्या युगे युगे ॥ १२ ॥

तत्तत्कर्म च वीर्यं च मम रूपं समासतः ।

त्यक्त्वाऽहंममतावुद्धिं न पुनर्भूः स जायते ॥ १३ ॥

वर्णान्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान् । वर्णा इत्यन्येषामप्युपलक्षणम् ।  
आश्रमान्ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतीन्मुनीन् । इति यो वेद वेदान्तैः  
सोऽतिवर्णाश्रमी भवेदिति शास्त्रप्रसिद्धान्वर्णाश्रमातीताञ्जडभरतादिस-  
दृशान् । साधून्वर्णादिष्वेव परकार्यसाधकानुपकारमनपेक्ष्य परोपका-  
रपरान्पालये पालयामि । बहुरूपधृत्, ऋषभदत्तात्रेयसनकवासिष्ठादिरूप-  
धरः । एवं लीलाप्रयोजनोपसंहारः । संभूतीरवतारान् । एवं यो वेत्ति सोऽहं-  
कारादींस्त्यक्त्वा पुनर्भूः स न जायते निरहंकारत्वादिहैव मुक्तः पुनर्जन्म  
न लभत इत्यर्थः । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥

न पुनर्भूः स जायत इत्युक्तं तत्र किंविधा न जायन्त इत्यत आह—

निरीहा निर्भयारोषा मत्परा मव्यपाश्रयाः ।

विज्ञानतपसा शुद्धा अनेके मामुपागताः ॥ १४ ॥

ईहा चेष्टा कर्मेन्द्रियव्यापारः । तद्रहिता निराहाराः । तत्र हेतुः—  
निर्भयारोषा इति । यो हि रोषेण परं हिनस्ति सोऽवश्यं भयं विदन्ति ।  
एतदेव व्यतिरेकमुखेण पितरं प्रति प्रह्लाद उक्तवान्—

यः परस्य न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा ।

तस्य पापागमस्तात हेत्वभावाच्च विद्यते इति ।

अरोषत्वमेव कुतो मत्परा इति । कामाक्रान्तो हि कामविहितक्रोधे-  
नाऽऽकुली क्रियते मत्परस्तु न कामादिभिरभिभूयत इत्यर्थः । केचित्तु  
रूयादिपरा राजादिव्यपाश्रयपराश्च भवन्ति । एते तु मत्परा मदेकव्य-  
पाश्रयाश्च भवन्ति । अत एव विज्ञानतपसा शुद्धाः । विज्ञानं सम्यगात्म-  
तत्त्वावेक्षणं तदेव तपः । “ यस्य ज्ञानमयं तपः ” ( मु० १।१।६ ) इति  
श्रुतेः । तेन शुद्धाः सर्वोपाधिप्रहाणान्निर्मलाः । एवंविधा अनेके बहवो  
मां विदन्ति । तन्मात्रं शोधिततत्पदार्थमज्ञानापगममात्रेणोपागता मया  
सहैक्यं गताः । यथोक्तं विष्णुपुराणे—

विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।

आत्मनो ब्रह्मणा भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥ इति ॥ १४ ॥

ये त्वनष्टाज्ञानास्तेषामप्यहमेव गतिरित्याह—

येन येन हि भावेन संसेवन्ते नरोत्तमाः ।

तथा तथा फलं तेभ्यः प्रयच्छाम्यव्ययः स्फुटम् ॥ १५ ॥

येन सात्त्विकेन भावेन स्वर्गार्थिनो यज्ञादिना मां भजन्ते राजसेनै-  
हिकभोगार्थिनः काम्येन कर्मणा तामसेन शत्रुवधाद्यर्थिन आभिचारिकेण  
कर्मणा तथा तथा तत्तद्भावानुरूपं फलं तेभ्यः प्रयच्छामि । अव्ययोऽवि-  
क्रियः । उच्चावचकर्मकारिषु तेषु रागद्वेषशून्यः पर्जन्यवत्सर्वभावानुग्राह-  
कत्वादिति तत्स्फुटं लोकप्रसिद्धम् ॥ १५ ॥

एवं संसारिणां त्रैगुण्यमुक्त्वा निष्त्रैगुण्यं पन्थानमाह—

जनाः स्युरितरे राजन्मम मार्गानुयायिनः ।

तथैव व्यवहारं ते स्वेषु चान्येषु कुर्वते ॥ १६ ॥

हे राजन्वरेण्य, इतरे त्रिविधकामनारहिता जना लोका मम निष्त्रै-

गुण्यस्य मार्गं शमदमाद्यनुष्ठानरूपमनुलक्ष्य यान्ति तेऽनुयायिनः स्युर्भवन्ति । तथैव निवृत्त्यनुरूपमेव स्वेषु भक्तजनेषु व्यवहारं तत्त्वोपदेशादिकं कुर्वते, अन्येष्वभक्तेषूपेक्षादिकं च कुर्वते ॥ १६ ॥

पुनः कामिनां मतमनुवदति-

कुर्वन्ति देवताप्रीतिं वाञ्छन्तः कर्मणां फलम् ।

प्राप्नुवन्तीह ते लोके शीघ्रं सिद्धिं हि कर्मजाम् ॥ १७ ॥

ध्यानजा सिद्धिश्चिरकालसाध्येति तामुपेक्ष्य कर्मजां सिद्धिं शीघ्रफलां कामिनो वाञ्छन्तीति भावः । अक्षरयोजना स्पष्टा ॥ १७ ॥

तत्किं कर्म मुमुक्षुणा त्याज्यमेवेत्याशङ्क्याऽऽह-

चत्वारो हि मया वर्णा रजःसत्त्वतमोऽशतः ।

कर्माशतश्च संसृष्टा मृत्युलोके मया नृप ॥ १८ ॥

हे नृप हे वरेण्य हि प्रसिद्धं चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा रजःसत्त्वतमोऽशतः कर्माशतश्च सम्यङ्मया सृष्टा इत्यर्थः । कर्माशत इत्यनेन प्राग्भवीयतत्तद्वर्णगतकर्मबीजानुसारेण तत्तद्वर्णगतगुणस्वभावानुसारेण च सृष्टाः । तथा हि ब्राह्मणः सत्त्वप्रधानः शमो दमस्तपः शौचमित्यादिना स्वाभाविकेन कर्मणा युक्तः सृष्टः । तथा क्षत्रियः सत्त्वोपसर्जनरजोगुणप्रधानः शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यमित्यादिना स्वाभाविकेन कर्मणा युक्तः सृष्टः । तथा रजःप्रधानेन तमउपसर्जनेन सत्त्वाभावाद्द्वैश्यः कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यादिना स्वाभाविकेन कर्मणा बद्धः सृष्टः । \* अतस्तेषामुत्पत्तिशिष्टं कर्म न त्यक्तुं शक्यमिति भावः । मृत्युलोक इत्यर्थप्राप्तं पुनर्मयेतिवचनमन्तर्यामित्वसर्वेश्वरत्वतद्रूपभेदज्ञापनार्थम् । तथा हि-“एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्” (मा०६) इति श्रुतौ सर्वेश्वरत्वसर्वान्तर्यामित्वयोः पृथक्श्रवणात् । तथा चान्तर्यामित्वांशेन तत्तत्प्राणिगतकर्मबीजानुसारेण पर्जन्यवत्कार्यं सृजामि सर्वेश्वरत्वरूपेण तत्तद्गुणांशानुसारित्वांशेन निग्रहानुग्रहौ च करोमीत्यर्थः । तथा च श्रुती भवतः-“यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति” (बृ० ३।७।१५) इति । “भीषाऽस्माद्वातः पवते” (ना०२।८।१) इति च ॥ १८ ॥

\* रजस्यापरिचरण कर्मणा शूद्रः सृष्ट इत्यधिकं घ. पुस्तके ।

एतद्धर्मद्वयं मम मायिकमेव न स्वाभाविकमित्याह—

कर्तारमिति मां तेषामकर्तारं विदुर्बुधाः ।

अनादिमीश्वरं नित्यमलिप्तं कर्मजैर्गुणैः ॥ १९ ॥

यथाऽयस्क्रान्तोऽभिनवया शक्त्या लोहबन्धनस्य कर्ताऽपि निर्व्या-  
पारत्वादकर्तेव । एवं मां तेषां वर्णादीनां प्रयोजककर्तारमपि स्वरूपतोऽ-  
कर्तारं बुधाः पण्डिता विदुर्जानन्ति । अत्र हेतूनाह—अनादिमित्यादीनां ।  
आदिमन्तो हि जीवाः प्राग्भवीयकर्मबद्धत्वाद्नीश्वरा मरणधर्मिणो  
मृताश्च कृतेन कर्मणां किं सांप्रतं स्वर्गं नरकं च गत्वा वृष्टिद्वारेणान्ना-  
त्मतां लब्ध्वा पुनः शुक्रशोणितयोगेन जन्म लभन्ते पुनः कर्म कुर्वन्ती-  
त्येतत्संसारचक्रमनिशमावर्तते । अहं तु तद्विपरीतत्वान्न संसारीत्याह-  
अनादिं जन्महीनम् । अत एवमीश्वरमकृत्रिमवैभवयुक्तं नित्यं नाशही-  
नम् । अत्र हेतुः—कर्मजैर्गुणैरलितमिति । कर्मजेन ह्यैश्वर्येण जन्तुर्बध्यते,  
ईश्वरस्य त्वकर्मजं मायिकमैश्वर्यं न बन्धहेतुः । यथोक्तं वार्तिके मुक्तं  
प्रकृत्य—

ब्रह्मत्वादेव जीवस्य भ्रान्तजीवत्ववारणात् ।

वशित्वाद्या ब्रह्मधर्माः शिष्यन्तेऽतोऽयमीश्वरः ॥

निवृत्तत्वाज्जीवधर्मा भासन्ते नैव कस्यचित् ।

अतिवृत्ता ईशधर्मा अकर्मापादितत्वतः ॥

भान्ति ते त्वीश्वरस्यापि बुद्धानां च स्वबुद्धितः ।

ईश्वरस्य ततो धर्माः सन्तु न त्विह विस्मयः ॥

तिष्ठत्स्वपीशधर्मेषु धर्माणां मायिकत्वतः ।

ईशो निर्धर्मको बोध्यो विमुक्त्यर्थं मुमुक्षुभिः ॥ इति ॥ १९ ॥

एतज्ज्ञानफलमाह—

निरीहं योऽभिजानाति कर्म बध्नाति नैव तम् ।

चक्रुः कर्माणि बुद्ध्वैवं पूर्वं पूर्वं मुमुक्षवः ॥ २० ॥

यो मां निरीहमपरिस्पन्दमुक्तरूपमीश्वरं सर्वेषां प्रत्यग्भूतमभिजानाति  
साक्षात्करोति स कर्मभिः शुक्लं कृष्णं मिश्रं चेति त्रिविधं कर्म तं नैव

१ ख. हेतूमाह । २ ख. 'ना । अनादि' । ३ क. 'णा किं सामन्तस्वर्गन' । घ. 'णाकिमास-  
न्तस्व' । ४ क. ख. प्रकृत्या । ५ क. ख. 'तिदत्ता' ।

बध्नाति कर्मत्वादिर्मदन्तःकरणस्य विविक्तत्वात् । एवं ज्ञानफलं बुद्ध्वा मुमुक्षवो मोक्षार्थिनश्चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानप्राप्तये कर्माणि नित्यनैमित्तिकानि चक्रुः पूर्वमनादिवेदबोधितं पूर्वं मुमुक्षोदयात्प्राक्कर्माणि चक्रुः । जातायां मुमुक्षायां श्रवणादीन्येव कुर्वन्तीत्युपरिष्ठाद्बोध्यम् ॥ २० ॥

मुमुक्षवः कर्माणि कथं चक्रुरित्यपेक्षायां तद्विभागं विवक्षुः प्ररोचनार्थं विभागफलमादावाह—

वासनासहितादायात्संसारकारणादृढात् ।

अज्ञानबन्धनाज्जन्तुर्बुद्ध्वा यं मुच्यतेऽखिलात् ॥ २१ ॥

यं कर्माकर्मविकर्मणां विभागं बुद्ध्वा सम्यग्ज्ञात्वा जन्तुरधिकारी, अज्ञानबन्धनान्मूलाज्ञानमेव बन्धनं तस्मादखिलान्निरवशेषान्मुच्यते तं कथयामीत्युत्तरेणान्वयः । अज्ञानमेव विशिनष्टि—वासनासहितादिति । यथोक्तं “बन्धो हि वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः इति” । आद्यात्, अनादेः संसारस्य जन्ममरणधारारूपस्य कारणात् । दृढाद्दुरुच्छेदात् ॥ २१ ॥

तदकर्म च कर्मापि कथयाम्यधुना तव ।

यत्र मौनं गता मोहादृषयो बुद्धिशालिनः ॥ २२ ॥

यस्मात्कर्मविभागज्ञो मुच्यते तत्तस्माद्धेतोरकर्म विहिताकरणं चकारान्निषिद्धाचरणरूपं विकर्म, स्वधर्मानुष्ठानरूपं कर्म च, अपिश्र्वार्थः । तव तुभ्यमधिकारिणेऽधुनेदानीं कथयामि स्पष्टी करोमि । अयं विभागोऽतिगहन इत्याह—यत्रेति । यत्र विभागे बुद्धिशालिनोऽपि मुनयो मोहादज्ञानान्मौनं गताः । स्पष्टार्थानि पदानि ॥ २२ ॥

तत्त्वं मुमुक्षुणा ज्ञेयं कर्माकर्मविकर्मणाम् ।

त्रिविधानीह कर्माणि शृणु चैषां गतिः प्रिय ॥ २३ ॥

व्याख्यातरूपाणां तत्त्वं याथात्म्यं ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । विभागज्ञानमावश्यकं गहनं चेत्याह—इह लोके कर्माणि कर्माकर्मविकर्माणि प्रत्येकं \* त्रिविधानि कर्माणि विकर्माकर्मणोः कर्मणि कर्माकर्मणोर्विकर्माणि

\* त्रिविधानीत्यारभ्य दर्शनादित्यन्तग्रन्थो न विद्यते क. ख पुस्तकयोः ।

कर्मणोश्च दर्शनाच्चैविध्यमत एषां गतिरवगतिः सुनिष्ठा, अतीव गम्भीरा प्रियेति संबोधयन्त्यतो मद्भक्तत्वात्त्वया त्वाद्देशेन वेदं बोद्धुं शक्यमिति सूचयति ॥ २३ ॥

तदेव तत्त्वं दर्शयति—

क्रियायामक्रियाज्ञानमक्रियायां क्रियामतिः ।

यस्य स्यात्स हि मर्त्योऽस्मिँल्लोके मुक्तोऽखिलार्थकृत् ॥ २४ ॥

क्रियायां यज्ञदानजपादिरूपोयामक्रियाज्ञानं, क्रिया चाक्रिया च, अक्रिये विहिताकरणं शास्त्रनिषिद्धाचरणं च तयोर्ज्ञानमक्रियाज्ञानम् । तथा हि—

‘ अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्पेत्य नो इह ॥ ’

इति भगवद्वचनादश्रद्धया कृतमकृतमेव भवति । तथा चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि । मानाग्निहोत्रमुत मानमौनमानेनाधीतमुत मानयज्ञ इति अग्निहोत्रादेरभयंकरस्यापि निषिद्धाचरेणाद्भयंकरत्वं स्मर्यते । तदिदं द्वयं सत्क्रियायामप्यस्तीति बुद्ध्वा यः परिहृत्य क्रियां करोति सोऽखिलकृत् । कृत्स्नकर्मकृदित्यर्थः । तथाऽक्रियायां विहिताकरणे विरुद्धाचरणे च यस्य सत्क्रियाबुद्धिः सोऽप्यखिलकृद्भवति । तथा हि सत्यमेव वदेन्नानृतं वदेदिति सत्यवचनं विहितं तच्च चोरेभ्यः कार्पटिकमार्गमुपादिशतः सत्यवादिनः कार्पटिकहिंसानिमित्तभूतस्य नरकपातः स्मर्यते । एवमनृतं स्वतो दोषकरमिति निषिद्धं प्राणिनां त्राणार्थं प्रत्युत स्वर्गकरं भवति । एवमौदासीन्यं सर्वत्र हितकरमपि क्षत्रियस्य गोब्राह्मणरक्षणार्थमपि शस्त्रमधारयतो महते नरकाय भवति । एवं “ स्तेनः प्रमुक्तो राजनि ” इति श्रुतेर्वध्यस्यापि चोरस्य मोचनं राज्ञः पापाय भवतीत्यकर्तव्याऽपि हिंसा कर्तव्यत्वेन विधीयते । तदेवं फलतो बलाबलं निश्चित्य यः कर्माण्यकर्माणि विकर्माणि वा श्रेयःसाधनान्येवानुतिष्ठति सेयमक्रियायां क्रियामतिः । पूर्वोक्तक्रियायामक्रियामतिश्च यस्य मर्त्यस्य मनुष्यस्य स्यात्, हि प्रासिद्धम् । लोकेऽखिलार्थकृत् । संपूर्णपुरुषार्थचतुष्टयसाधको भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

१ ख. ‘पायां कि’ । २ घ. ‘क्रियेच’ । ३ घ. ‘रणवद्’ । ४ क. ख. ‘त्युक्तं स्व’ । ५ क. ख. ‘बोक्ता क्रिया तु अक्रिया म’ । ६ घ. ‘खिलार्थकृत्’ ।

एवं कुर्वतः फलितमाह—

कामाङ्कुरवियोगेन यः कर्माण्यारभेन्नरः ।

तत्त्वदर्शननिर्दग्धक्रियमाहुर्बुधा बुधम् ॥ २५ ॥

कर्माण्युक्तविधानि, विवेकवतः श्रेयःसाधनान्यपि कर्माकर्मवि-  
कर्माणि सकामेन कृतानि चेत्तान्येव संसारवृक्षस्याङ्कुरी भवन्ति ।  
अतस्तद्वियोगेन यः पुरुषस्तान्यारभेत कुर्यात्तं पुरुषं त्रिविधकर्मतत्त्वद-  
र्शनेन कामराहित्येन च निर्दग्धा निर्बीजीकृताः सर्वाः क्रिया येन तं  
तथाविधं पुरुषं बुधाः पण्डिता बुधं पण्डितमाहुः ॥ २५ ॥

कामाङ्कुरवियोगमेव स्तौति पञ्चभिः—

फलतृष्णां विहाय स्यात्सदा तृप्तो विसाधनः ।

उद्युक्तोऽपि क्रियां कर्तुं किञ्चिन्नैव करोति सः ॥ २६ ॥

यः फलतृष्णां विहाय नित्यतृप्तः स्यादिति योजना तृष्णात्याग एव  
तृप्तिसाधनं न भोग इत्यर्थः । यथोक्तम्—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ इति ।

यस्मान्नित्यतृप्तोऽतो विसाधनः स्रक्चन्दनवनितादिभोगसाधनहीनः  
स एवंभूतः शास्त्रप्रापितां नित्यां नैमित्तिकीं क्रियां कर्तुमुद्युक्तः प्रयु-  
क्तोऽपि स किञ्चिन्नैव करोति कर्मलेपाभावादिति भावः । तथा हि—  
उपाख्यायते गोपालतापनीये—यमुनापारस्थं दुर्वाससं तर्पयितुं मिष्टान्न-  
पात्रीहस्ताः कृष्णभार्याः सर्वा यमुनां दुस्तरां कथं तरेमहीति कृष्णं  
पृष्ठवत्यस्तेनोक्ता यद्यखण्डितब्रह्मचर्यः कृष्णस्तरेमेति ताभिः पृष्ठो  
दुर्वासास्ताः प्रति प्राह यदि निराहारो दुर्वासास्तर्ह्यस्मभ्यं मार्गं देही-  
त्युक्त्वा तं नत्वेति तास्तथैव चक्रुः । अनयोपमया नित्यतृप्तस्याभो-  
क्तृत्वं बोध्यम् ॥ २६ ॥

उत्तमं वैतृष्ण्यमुक्त्वा ततोऽप्यवरं तदाह—

निरीहो निगृहीतात्मा परित्यक्तपरिग्रहः ।

केवलं वैग्रहं कर्माऽऽचरन्नाऽऽयाति पातकम् ॥ २७ ॥

वैतृष्ण्यादेव निरीहो बाह्येन्द्रियचेष्टारहितः । निगृहीतात्मा जितचि-  
त्तोऽत एव परित्यक्त परिग्रहः रूपादिपरिग्रहशून्यः संन्यासीत्यर्थः । विग्रहः

शरीरं, तत्स्थितिमात्रसाधनं भिक्षाटनाद्यर्जनं कुर्वन्केवलं कर्म कैवल्यसाधनं वेदान्तश्रवणमननादिकं कुर्वन्पातकं संसारं नाऽऽयाति न प्राप्नोति॥२७॥

ततोऽप्यवरमाह—

अद्वंद्वोऽमत्सरो भूत्वा सिध्यसिध्योः समश्च यः ।

यथाप्राप्तीह संतुष्टः कुर्वन्कर्म न बध्यते ॥ २८ ॥

द्वंद्वानि शीतोष्णमुखदुःखमानापमानलाभालाभादीनि वित्तवैयर्थ्यकराणि न सन्ति यस्यासावद्वंद्वः । मत्सरः परोत्कर्षासहिष्णुत्वं तद्रहितोऽमत्सरो भूत्वेदमादौ निष्पाद्य सिद्ध्यसिद्ध्योरिष्टप्राप्तितदप्राप्त्योर्यः समो हर्षामर्षगून्यः । अत एव यथाप्राप्तिं यदृच्छया लाभस्तन्मात्रेणेह लोके संतुष्टः । आमुष्मिकेऽर्थे तु तीव्रायासवानितीहपदेन द्योत्यते । यथाप्राप्तीति क्रियाविशेषणं प्राप्तिमनतिक्रम्य यथा स्यात्तथा संतुष्ट इत्यर्थः । स एवंभूतः कर्म देहनिर्वाहमात्रार्थं कन्थाकौपीनादिप्रतिग्रहं कुर्वन्नपि तज्जेन दोषेण न लिप्यते न स्पृश्यते ॥ २८ ॥

एवं वितृष्णस्य योगिनो योगमनुतिष्ठतः कर्मलिपमाह—

अखिलैर्विषयैर्मुक्तो ज्ञानविज्ञानवानपि ।

यज्ञार्थं तस्य सकलं कृतं कर्म विलीयते ॥ २९ ॥

अखिलैर्विषयैर्दिव्यैरदिव्यैश्च विषयैर्मुक्तः । दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यमिति सूत्रितेन वैराग्येण युक्तः । तत्तु विषयदोषदर्शनात्तज्जिहासाद्यर्थं यतमानसंज्ञावैराग्यं, त्यक्तेष्वपि विषयेषु कदाचित्तत्स्मरणं जायते तदेकेन्द्रियसंज्ञं वैराग्यं, दृष्टेष्वैहिकेषु विषयेष्वानुश्रविकेषु । अनुश्रवो वेदः । तत्र विहितेषु दिव्येषु विषयेषु मधुमत्यां योगभूमौ स्वयमुपस्थितेषु यद्वैराग्यं तद्वशीकारसंज्ञं तेनासंसृजित इत्यर्थः । ज्ञानविज्ञानवान् । ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजो बोधः । विज्ञानं ध्यानजो बोधः । तदुभयवानपि पुरुषो भवेत्, तीव्रवैराग्यपूर्वकं ज्ञानविज्ञाने संपादयेदेवेत्यर्थः । तत्र साधनमाह—यज्ञेति । तस्योक्तरीत्याऽऽत्मलाभकामस्य यज्ञार्थं यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः परमेश्वरप्रीत्यर्थं कर्माणि कुर्वतः सर्वकर्मवैराग्यबोधोत्पादनक्रमेण कृतं सर्वं कर्म पुण्यं पापं च विलीयते विनश्यति । निष्कामं कर्म बोधस्य साधनं बोधफलं सर्वकर्मदाह इत्यर्थः ।



तथा च श्रुतिः—“मिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे परावरे ” इति ।

स्मृतिश्च—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ इति ॥२९॥

यज्ञार्थं कर्माचरणप्रकारमाह—

अहमग्निर्हविर्होता हुतं यन्मयि चार्पितम् ।

ब्रह्माऽऽप्तव्यं च तेनाथ ब्रह्मण्येव यतो रतः ॥ ३० ॥

संसारे ज्ञानं ज्ञेयं चेति द्वावेव पदार्थौ । तत्र ज्ञेयं ज्ञानस्य परिणामः ।  
मृद इव घटशरावोदञ्चनादि । अत एवाऽऽत्मैवेदं सर्वं ब्रह्मैवेदं सर्वमि-  
त्युपादानोपादेयभावेन ब्रह्मप्रपञ्चयोरभेदः श्रुतिप्रसिद्धः । तेन सर्वं  
क्रियाकारकफलात्मकं ब्रह्मैवेत्यनुसंधाय कर्माणि कर्तव्यानीत्याह । अहं  
कर्ता, अग्निर्होमाधिकरणमस्मि । अहमेव हविः प्रक्षेप्तव्यं द्रव्यमस्मि ।  
होता होमस्य कर्ता चाहमस्मि । यद्धुतं या हवनक्रिया साऽप्यहमेवास्मि ।  
मय्यर्पितं मदुद्देशेन त्यक्तं संप्रदानकारकमप्यहमेवेत्यर्थः । तेन कर्मणा  
यत्फलं सुखादिकं चाऽऽप्तव्यं तदेव परमानन्दरूपं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ।  
अथ, ईदृग्ज्ञानानन्तरं कृतकृत्यो भवति । तत्र हेतुमाह—ब्रह्मण्येव यतो  
रत इति । कृत्स्नाद्वैताकारेण प्रभासमाने ब्रह्मण्येव यतो यस्मात् । वैदिक-  
कर्मकाले लौकिककर्माचरणे च रतो निष्ठावान्, न केवलं यज्ञादिकर्म-  
काल एव ब्रह्माद्वैतं भावयेदपि तु कृत्स्नं व्यवहारमद्वैतभावनयैव कुर्या-  
दिति भावः ॥ ३० ॥

ये त्विमां भावनां द्वैतदर्शनप्राबल्यात्कर्तुमशक्तास्तेषां मतमाह—

योगिनः केचिदपरे दिष्टं यज्ञं वदन्ति च ।

ब्रह्माऽऽग्निरेव यज्ञो वै इति केचन मेनिरे ॥ ३१ ॥

केचिद्योगिनस्तौष्टिका दिष्टमेव यज्ञं वदन्ति । एतच्च नवानामपि  
तौष्टिकानामुपलक्षणार्थं, ते चोक्ताः सांख्यसप्तत्याम्—आध्यात्मिकाश्च-  
तस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्या बाह्या विषयोपरमात्म्यञ्च तुष्टयोऽभि-  
हिताः । अस्यार्थः—केचिच्छ्रवणादिना ज्ञाततत्त्वा अपि वस्त्वापरोक्ष्यार्थं  
ध्यानेन यतन्ते प्रकृतिपरिणामो हि सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः परिणाम-

क्रमेण स्वयमेव भविष्यति किमुत सत्तयेत्येके । अन्ये तु सत्या सोपादानादेव स्वयं कृतकृत्याः किं ध्यानेनेत्याहुः । फलपरिपाकवज्ज्ञानपरिपाकः काले-  
नैव भविष्यति किं ध्यानेनेत्यन्ये । अन्ये पुनरदृष्टफलदेव पुत्रदारादिसंयो-  
गवियोगवज्ज्ञानाज्ञानसंयोगवियोगावपि भविष्यतः किं ध्यानेनेति ।  
त एते भाग्यतौष्टिका इह दिष्टं यज्ञमित्यनेन दर्शिताः । ता एताश्चत-  
स्रस्तुष्टय आध्यात्मिका इत्युच्यन्ते । अन्ये पुनः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा-  
मामेकैकस्य जयेनैक एक आत्मनः कृतकृत्यतां मन्यन्त इत्येता बाह्याः  
पञ्च तुष्टयो ज्ञानप्रतिबन्धिका भवन्ति त एते नव तौष्टिका दिष्टपदेने-  
होपलक्ष्यन्ते । इतोऽपि विशिष्टानाह—ब्रह्माप्तिरिति । अत्र ब्रह्मपदेन  
श्रौतं स्मार्तं वाऽग्निसाध्यं कर्मोच्यते । ब्रह्म वा यः क्रियमाणं निर्निर्त्सा-  
दिति(?) क्रियमाणे कर्मणि ब्रह्मशब्दप्रयोगात् । तदेवाग्निवत्समस्त-  
मलदाहकत्वेन शुद्धिकरत्वादग्निरिवाग्निर्ब्रह्माग्निः स एव यज्ञो देवपूजा-  
रूपो नान्यस्ततो यज्ञोऽस्तीति के च न मेनिरे । वैशब्दो महायज्ञैश्च  
यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुरिति । अग्निहोत्रं जुह्वानो लोभं भिन-  
त्यतः संमोहं छित्त्वा ” (मै० ६ । ३८) इत्यादि श्रुतिस्मृतिप्र-  
सिद्धिं सूचयति । यथोक्तं भगवता—कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता  
जनकादय इति ॥ ३१ ॥

इतोऽपि विशिष्टानाह—

संयमाग्नौ परे भूप इन्द्रियाण्युपजुह्वति ।

स्वाग्निष्वन्ये तद्विषयाञ्शब्दादीनुपजुह्वति ॥ ३२ ॥

एकैकस्येन्द्रियस्यैकैकस्मिन्विषये परिसमाप्तिः संयमः स एवाग्निस्त-  
स्मिस्तस्येन्द्रियस्य प्रविलापनं होम उच्यते । यथाऽनाहतध्वनौ संयतस्य  
श्रोत्रेन्द्रियस्य प्रथमं शब्दान्तराश्रवणमेव भवति तदेव स्पर्शादिसंवित्तिर-  
हितं विपुली भवति । तदेवात्यन्ताभ्यासे श्रोत्रादिनिष्कृष्टेन मनसा  
वर्जितं न स्फुरति सोऽयं शब्दसंयमाग्नौ श्रोत्रस्य होमः । एवं स्पर्शादि-  
संयमाग्निषु त्वगादीनां होमो द्रष्टव्यः । इतोऽपि विशिष्टानाह—स्वाग्नीति ।  
इन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेषु तत्तद्विषयाञ्शब्दादीनुपेत्य जुह्वति पूर्वार्थोक्ताः  
संयमिनस्तेषु तेषु संयमविषयेषु मज्जन्त्येव । एते तु तत्तदिन्द्रियवैभवानुभ-

वात्तस्य तस्य व्यवहितं विप्रकृतं त्रैकालिकं गृह्णन्तीति ततोऽपि विशिष्टाः ।  
यद्यपि वायुप्रोक्ते पुराणे-

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।  
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ।  
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ॥  
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्युत्तमचिन्तकाः ।  
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ॥

इतीन्द्रियधारणाया भूतधारणातोऽल्पकालिको ब्रह्मलोकवासः फलं  
स्मर्यते तथाऽपि तत्र दूरदर्शनश्रवणादिपर्यन्तमैन्द्रियधारणाऽभ्यस्ता, इह तु  
त्रैकालिकशब्दादिग्रहणफलोदयपर्यन्ता तद्धारणा विवाक्षितेति न कश्चि-  
द्दोषः ॥ ३२ ॥

पूर्वत्र व्यष्टीन्द्रियधारणोक्ता, इह त्वहंकारधारणोच्यते-

प्राणानामिन्द्रियाणां च परे कर्माणि कृत्स्नशः ।

निजात्मरतिरूपेऽग्नौ ज्ञानदीप्ते प्रजुहति ॥ ३३ ॥

प्राणानां पञ्चानामपि कर्माणि श्वासप्रश्वासादीनीन्द्रियाणां  
कर्माणि दर्शनश्रवणादीनि । परे, आचार्याः । कृत्स्नशः सर्वाणि । निजात्मा  
स्वस्याहंकारः कृत्स्नसंघाताभिमाना तत्रैव रतिः, रमणं प्रत्यगात्माऽयमि-  
तिभावना सैवाग्निस्तस्मिन् । ज्ञानदीप्ते ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजम् । इदं  
कृत्स्नं देहेन्द्रियसंघाताभिमानिविग्रहमर्थेऽन्तर्भूतमित्येवंभूतेन निश्चयेन द्यो-  
तमाने प्रजुहति प्रकर्षेणाऽऽत्ममात्रं दृश्यमिदमित्यवधारयन्ति । एवं रूपमु-  
पासनमुत्तममध्यमाधमयोगिभेदेन त्रिविधम् । अस्यामवस्थायां “स यदि  
पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन स पितृलो-  
केन संपन्नो महीयते” (छा०८।२।१) इत्यादिश्रुतेर्यः संकल्पोत्थैर्गन्धमा-  
ल्यादिभी रतिं प्राप्नोति । स योगी, आभिमानिको नाम सहस्रमन्वन्तराणि  
सत्यलोके तिष्ठति । अयमेव योगी बुद्धिमात्रा एते विषया नैतैः स्वप्नो-  
पमैः कश्चित्पुरुषार्थोऽस्तीति निश्चित्याऽऽत्मैवेदं सर्वमिति मत्वाऽऽस्ते स  
बौद्धो बुद्धितत्त्वोपासको दशसहस्रमन्वन्तराणि सत्यलोके तिष्ठति ।  
यस्तु बुद्धिमात्रमिदं जलबुद्बुदन्यायेनोत्तिष्ठतीति स्वस्यैव सर्वप्रकृतत्वं

मन्यते सोऽव्यक्तचिन्तको लक्षमन्वन्तराणि सत्यलोके तिष्ठतीत्येकस्यै-  
वोपासनस्य भावेनोत्कर्षहेतुकं फलोत्कर्षतारतम्यमुक्तम् ॥ ३३ ॥

तदेवं मुख्य आत्मप्रतिपत्त्युपाय उक्तः । अत्राशक्तानां प्रकारान्तरा-  
ण्याह—

द्रव्येण तपसा वाऽपि स्वाध्यायेनापि केचन ।

तीव्रव्रतेन यतिनो ज्ञानेनापि यजन्ति माम् ॥ ३४ ॥

द्रव्येण बहिर्वेदिदानेन यथा जानश्रुतिः, भूयसाऽन्नदानेन संतुष्टैर्देवैः  
प्रतिबोधितो ज्ञानार्थं तदुपदिष्टं गुरुं रैकं सयुग्वानमुपससाद । तथा  
तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना शोधितचित्ता ज्ञानेऽधिकारं लभन्ते ।  
स्वाध्यायेन वेदाध्ययनेन भरद्वाजादयः । तथा तीव्रव्रतेन योगशास्त्रप्रसि-  
द्धेन “ जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ” इति—  
सूत्रप्रदर्शितेनाहिंसादयो हि जात्यादिभिरनवच्छिन्नाः सर्वासु भूमिषु,  
अवस्थास्वनुष्ठिता महाव्रतमित्युच्यते । तत्र मृगानेव यज्ञियानेव हिंसिष्ये  
नान्यानि जात्यवच्छेदः । तानपि देशान्तर एव हिंसिष्ये न तीर्थादा-  
विति देशावच्छेदः । तत्रापि कालान्तर एव हिंसिष्ये न दर्शकादश्यादि-  
ष्विति कालावच्छेदः । तत्रापि श्राद्धार्थमेव हिंसिष्ये न त्वात्मार्थमिति  
समयावच्छेदः । श्राद्धे न वधिष्य इत्यनवच्छिन्ना अहिंसादयो बोध्याः ।  
एतदेव ज्ञानसाधनम् । यतिनो यत्नशीलाः शमदमाद्यनुष्ठानपराः ।  
ज्ञानेन “ अहं ब्रह्मास्मीति ” शास्त्रजन्यप्रत्यगभिब्रह्मबोधेन मां सर्वेषा-  
मन्तरात्मानं यजन्ति प्राप्नुवन्ति मया सह संगतिं घटाकाशमहाकाशन्या-  
येन प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

सर्वमनोनिग्रहपूर्वकः प्राणादीनां निग्रह उत्तमाधिकारिणामुक्तः ।  
इदानीं प्राणनिग्रहपूर्वकं मनोनिग्रहं वक्तुं प्राणनिग्रहं तावदाह—

प्राणेऽपानं तथा प्राणमपाने प्रक्षिपन्ति ये ।

रुद्ध्वा गतीश्रोभयोस्ते प्राणायामरता नराः ॥ ३५ ॥

प्राग्गमनवान्वायुः प्राणो मुखनासिकावर्ती । अवाग्गमनवान्वायुरपानः ।  
तत्र पार्श्विणा गुदभाषीड्यापानमूर्ध्वमुखं ये कुर्वन्ति ते प्राणेऽपानं प्रक्षि-  
पन्ति । ये तु पूरकपूर्वकं मुखनासिकं निरुध्य प्राणापानावेकी कुर्वन्तीति

ते प्राणमपाने प्राक्षिपन्ति । अनयोरन्यत्तरेणोपायेन तयोः प्राणापानयोर्गती-  
रूर्ध्वाधोगमनरूपा रुद्ध्वा निरुध्य दृढं कुम्भकं कृत्वा प्राणायामे प्राणा-  
नामायामे विस्तारे रतास्तत्पराः पुरुषा भवन्ति । अयमर्थः—यथा तूल-  
पिण्डः प्रसारितो बिस्तृतो विस्तृततरो विस्तृततमश्च भवति तथा कुम्भक-  
बलेन सूक्ष्मीकृतः प्राणवायुर्वेहाद्वहिः षट्त्रिंशद्ङ्गुलपर्यन्ते देशे नासावायु-  
गत्वा तत्रस्थं सूक्ष्मं तूलांशं चालयति तदा सूक्ष्मीभूतो ज्ञेयः । अन्यथा  
स्थूलरूपः सन्निगृह्यमाणं मनो विक्षिपति सूक्ष्मीभूतस्तु न मनसो विक्षेपं  
कर्तुं शक्नोति । तथा च श्वेताश्वतरा आमनन्ति “प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्त-  
चेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्म-  
नो धारयेताप्रमत्तः ” ( २।१। ) इति । भगवद्गीतास्वपि प्राणापा-  
पानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणावित्येतदेवोक्तम् ॥ ३५ ॥

त एवं प्राणायामरताः सन्तः किं कुर्वन्तीत्यपेक्षायामाह—

जित्वा प्राणान्प्राणगतीरुपजुह्वति तेषु च ।

एवं नानायज्ञरता यज्ञध्वंसितपातकाः ॥ ३६ ॥

एवमुक्तक्रमेण प्राणाजित्वा सूक्ष्मीकृत्य प्राणगतीः प्राणाधीना गतयो  
यासां ताः प्राणगतीरिन्द्रियवृत्तीर्मनोवृत्तीश्च तेषु इन्द्रियमनःसु, उपजु-  
ह्वति । इन्द्रियार्थानिन्द्रियेषु । इन्द्रियाणि मनसि मनो जीवे जीवं  
ब्रह्मणि चोपजुह्वतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—अग्न्यादीनां विषयाणां वागा-  
दिष्विन्द्रियेषु तानि मनसि मनो जीवे जीवमीश्वरे ईश्वरं ब्रह्मणि च  
जुह्वतीति श्रूयते । “अग्निर्मे वाचि श्रितः, वाक् हृदये हृदयं मयि अहममृतम् ।  
अमृतं ब्रह्मणि वायुर्मे प्राणे श्रितः प्राणो हृदये” (तै० ब्रा० ३।१०।८) इत्यादि ।  
एवमनेन क्रमेण यथाधिकारं नानाविधेषु यज्ञेषु रता निष्ठावन्तस्तैरेव  
यज्ञैर्ध्वंसितानि ध्वस्तानि पातकानि यैस्ते मुख्ये यज्ञेऽधिक्रियन्त इत्यर्थः ।  
तथा च स्मरन्ति—

प्राणायामैर्दहेदेनो धारणाभिश्च किल्बिषान् ।

प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ इति ॥ ३६ ॥

परिशिष्टं द्रव्येण तपसा वेत्यत्रोक्तस्य द्रव्ययज्ञस्य फलमाह—

नित्यं ब्रह्म प्रयान्वेते यज्ञशेषामृताशिनः ।

अयज्ञकारिणो लोको नायमन्यः कुतो भवेत् ॥ ३७ ॥

एते जनकं जानश्रुतिप्रभृतयो यज्ञस्य द्रव्यसाध्यस्यान्नदानादेर्यच्छेषं तदेवामृतसाधनत्वादमृतं येऽश्नन्ति ते विशिष्टगुरुदेवतानुग्रहक्रमेण नित्यं ब्रह्म प्रयान्ति । शुद्धचिदात्मानं प्राप्नुवन्ति । ये त्वेतन्नानुतिष्ठन्ति ते लोक-  
द्वयभ्रष्टा भवन्तीत्याह—अयज्ञेति । स्पष्टं श्लोकार्धम् ॥ ३७ ॥

अथाऽऽध्यात्मिकं यज्ञत्रयमपि मोक्षसाधनमित्याह—

कायिकादित्रिधाभूतान्यज्ञान्वेदे प्रतिष्ठितान् ।

ज्ञात्वा तानखिलान्भूष मोक्षयसेऽखिलबन्धनात् ॥ ३८ ॥

कायिको यज्ञस्तीर्थाटनसूर्यनमस्कारादिः केवलं स्वल्पः स एव मन्त्र-  
पाठसहितो मध्यमः स एवार्थानुसंधानपूर्वकमन्त्रपाठसहित उत्तमः ।  
वाचिकः शरीरायासरहितो मन्त्रोद्धारणमात्ररूपोऽल्पः । अर्थानुसंधा-  
नसहितो मन्त्रोच्चारणमात्ररूपो मध्यमः । स एवोपांशुवर्णोच्चारयुक्त  
उत्तमः । एवं मानसोऽपि शब्दानुस्मृतिपूर्वकं देवताचिन्तनमल्पं शब्द-  
विस्मृतिपूर्वकं मध्यमोपायवाग्विस्मृतिपूर्वकं मनोमात्रेण देवतामयत्वं  
उत्तमः । त एते त्रयो यज्ञाः प्रत्येकं त्रिविधरूपाः कायिकादिपदेनो-  
च्यन्ते । कायिकादिभेदेन त्रिधा भूतानिति मध्यमपदलोपी समासः ।  
एवंभूतान्यज्ञान्वेदे प्रतिष्ठितान्वेदकर्त्रा मयैव ज्ञापितानखिलानित्येकैकस्य  
त्रैविध्ये पूर्वीं खिलौ सच्छिद्रौ । अन्तिमास्तु प्रत्येकमखिलानितिक्रमेण  
ज्ञात्वा हे भूष ज्ञानोत्पत्त्यादिक्रमेण, अखिलबन्धनात्समूलादविद्याका-  
र्यान्मोक्षयसे मुक्तो भविष्यसि । अस्मिन्यज्ञे स्त्रीशूद्रादयोऽपि वैदिकज-  
पवर्जमधिक्रियन्ते ॥ ३८ ॥

सर्वयज्ञशेषीभूतं ज्ञानयज्ञमाह—

सर्वेषां भूष यज्ञानां ज्ञानयज्ञः परो मतः ।

अखिलं लीयते कर्म ज्ञाने मोक्षस्य साधने ॥ ३९ ॥

ज्ञानयज्ञो निःशेषवाङ्मनःकायप्रवृत्त्युपरमात्मिका ब्रह्मनिष्ठेह वेदान्तैः  
पुंसः संपद्यते भृशमित्युक्तलक्षणा तत्त्वममस्यादिवाक्यजा ब्रह्मनिष्ठा  
ज्ञानयज्ञः । स यज्ञान्तरेभ्यः परः श्रेष्ठो मतो निश्चितः । इतरेषां यज्ञानां

१ क. ख. 'कज्ञान' । २ क. ख. 'यत्तत्र' । ३ ख. 'लवः स्व' । ४ ख. घ. 'मो काय' । ५ क.  
ख. 'त्वमुत्त' । ६ क. ख. 'दिभे' ।

तन्मात्रार्थत्वादखिलं पूर्वोक्तं त्रिविधं कर्म कायवाङ्मनसा वा येन तत्कृतं कर्म मृगतोयवल्लीयते समूलमुच्छिद्यते । शेषं स्पष्टम् ॥ ३९ ॥

“तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्” (मु० १।२।१२) इति श्रुते-  
राचार्यगुरुपसदनपूर्वकमेव ज्ञानलाभो भवतीत्याह—

तज्ज्ञेयं पुरुषव्याघ्र प्रश्नेन नतितः सताम् ।

शुश्रूषया वदिष्यन्ति सन्तस्तत्त्वविशारदाः ॥ ४० ॥

तत्तु ज्ञानं सतां शुश्रूषया नतितः प्रणिपातेन प्रश्नेन “अधीहि भगवः” (छा० ७।१।१) इति शास्त्रोक्तेन प्रार्थनेन हे पुरुषव्याघ्र ज्ञेयमधिगन्तव्यम् । कथं शुश्रूषिताः सेविताः सन्तः साधवो वदिष्यान्ति, उप-  
देक्ष्यन्ति । के तत्त्वविशारदाः । तत्त्वे वस्तुयाथातथ्ये विषये विगता शारदा सरस्वती येभ्यस्ते विशारदाः । निर्ग्रन्था अनुभविन इत्यर्थः । तत्त्वे तत्त्व-  
व्युत्पादने निपुणाः । तत्त्वविशारदाश्चेति द्वंद्वैकशेषः । ‘ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः’ “समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्” (मु० १।२।१२) इति स्मृतौ श्रुतौ च विशेषणद्वयादेवं कल्प्यते ॥ ४० ॥

गुरुपसदनमेव महीं करोति श्लोकत्रयेण नानेति—

नानासङ्गाञ्जनः कुर्वन्\*नैकं साधुसमागमम् ।

करोति तेन संसारे बन्धनं समुपैति सः ॥ ४१ ॥

अयं जनो नानासङ्गान्नानाविधान्पुत्रदारधनादिविषयान्सङ्गानासक्तीः कुर्वन्तेनैव हेतुना, एकं साधुसमागमं न करोत्यतो बध्यत इत्यर्थः । यथोक्तं भारते—

यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् ।

तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥ इति ॥ ४१ ॥

सत्सङ्गाकरणे दोषमुक्त्वा तत्करणे गुणमाह—

सत्सङ्गाद्गुणसंभूतिरापदां लय एव च ।

स्वहितं प्राप्यते सर्वैरिह लोके परत्र च ॥ ४२ ॥

गुणानां सारासारविवेकपूर्णानामुत्पत्तिः । आपदां शोकमोहादीनां नाशश्च सत्सङ्गान्भवति । ततश्च सर्वाधिकारिभिः स्वहितमात्मनः

\* मूले नैकमिति वर्तते नैकमिति भाव्यम् ।

क्षेमकरमैहिकमामुष्मिकं च हितं जीवन्मुक्तिसुखं विदेहमुक्तिसुखं च प्राप्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

उक्तमेवार्थं संक्षिप्याऽऽह—

इतरत्सुलभं राजन्सत्सङ्गोऽतीव दुर्लभः ।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्बन्धमेति ज्ञेयं च तत्त्वतः ॥ ४३ ॥

प्रतिपात्तिसौकर्यार्थमितरत्सुलभं \*राजन्सत्सङ्गोऽतीव दुर्लभः । सत्सङ्गस्तु मनुष्ययोनावपि जन्तूनामत्यन्तवैराग्यदर्शनात्केषांचिदेव भवति । अनेकजन्मकृतैः सुकृतफलत्वादतीव दुर्लभः सत्सङ्गः । यद्यस्मात्ततः सत्सङ्गाज्ज्ञेयम्, आत्मानं ज्ञात्वा पुनर्बन्धं नैति न प्राप्नोति तस्मान्द्वेतोः सत्सङ्गः कर्तव्य इत्यर्थः । यतो नियतः सन्सत्सङ्गं कुर्विति योजना ॥ ४३ ॥

ज्ञानस्यापि फलमाह—

ततः सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति ।

अतिपापरतो जन्तुस्ततस्तस्मात्प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

ततः सद्भिर्दत्ताज्ज्ञानाद्गुरुक्तयुक्त्या प्रत्यक्प्रवणचित्तः सन्सर्वाण्यतीतानागतवर्तमानानि भूतानि जरायुजादीनि स्वात्मनि स्वकीये हृद्दर्पणेऽभ्यभितः साकल्येन पश्यति निरङ्कुशसर्वज्ञत्वं प्राप्नोति । तथाचाऽऽत्मविज्ञानात्सर्वविज्ञानं प्राप्नोतीत्यर्थः । तेनैवाऽऽत्मज्ञानेनातिपापरतोऽपि जन्तुः । “ हत्वाऽपि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ” इति वचनात् । ततः पापात्तस्माज्ज्ञानात्प्रकर्षेण मुच्यते । “ यथेष्ठीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते ” ( छा०प० २५।३ ) इति ज्ञानस्य पापदाहकत्वश्रवणात् ॥ ४४ ॥

एतदेव सदृष्टान्तमाह—

द्विविधान्यपि कर्माणि ज्ञानाग्निर्दहति क्षणात् ।

प्रसिद्धोऽग्निर्यथा सर्वं भस्मतां नयति क्षणात् ॥ ४५ ॥

द्विविधानि पुण्यानि पापानि च । तथा विद्वान्पुण्यपापे विधूयति ते सुकृतदुष्कृते विधुनुते, अपुण्यपुण्योपरमे, इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः पापवत्पुण्यविनाशस्यापि मुक्ताविष्टत्वाद्द्विविधानीत्युक्तं स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ ४५ ॥

\* राजन्नित्यारभ्य दुर्लभइत्यन्तं न विद्यते घ. पुस्तके ।



न ज्ञानसमतामेति पवित्रमितरन्नृप ।

आत्मन्येवावगच्छन्ति योगात्कालेन योगिनः ॥ ४६ ॥

यस्माज्ज्ञानं पुण्यपापे भस्मी करोति तस्मात्—हे नृप राजन्नि-  
तरत्पवित्रम् । अग्निः पवित्रं सोमः पवित्रमापः पवित्रमित्यादि-  
श्रुतिप्रसिद्धं, ज्ञानेन समतां नैति । सर्वकर्मक्षयः सद्यो यथा  
ज्ञानेन भवति तथा नाग्न्यादिनेत्यर्थः । तज्ज्ञानं योगाद्योगाभ्यासात्का-  
लेन कालकृतेन योगपरिपाकेन योगिनो योगाभ्यासरताः । आत्मन्येव,  
अस्मिन्नेव देहे । अवगच्छन्ति, तत्तदुपाध्याकारतानिषेधेनावगच्छन्ति  
प्राप्नुवन्ति । यथोक्तम्—

नियमः परिसंख्यां वा विध्यर्थो हि भवेद्यतः ।

अनात्मादर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे ॥ इति ॥ ४६ ॥

भक्तिमानिन्द्रियजयी तत्परो ज्ञानमाप्नुयात् ।

लब्ध्वा तत्परमं मोक्षं स्वल्पकालेन यात्यसौ ॥ ४७ ॥

योगेऽपि प्रवृत्तिर्भक्त्यादिमतैवानुष्ठेयेति ज्ञानम् । एतच्च गुरुदेववा-  
क्यादिषु फलावश्यंभावनिश्रयरूपायाः श्रद्धाया अप्युपलक्षणं तदुभयवा-  
न्भक्तिमान् । इन्द्रियजयी जितेन्द्रियः । तत्परो योगपरः । ज्ञानं तत्त्वम-  
स्यादिवाक्यजं बोधमाप्नुयात् । तज्ज्ञानमिह लोके लब्ध्वा किञ्चित्कालं  
प्रारब्धकर्मणाऽवस्थापिते देहेन्द्रियसंघाते जीवन्नेव मुक्तोऽपि परमं मोक्षं  
विदेहकैवल्यं स्वल्पकालेन प्रारब्धकर्मभोगान्ते याति प्राप्नोत्यसौ योगी ।  
तथाचोक्तम्—स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।

अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथा घटम् ॥ इति ।

योगादेव ज्ञानं प्राप्नोतीति दक्षस्मृतौ ॥ ४७ ॥

भक्त्याद्यभावे दोषमाह—

भक्तिहीनोऽश्रद्धानः सर्वत्र संशयी तु यः ।

तस्य शं नापि विज्ञानमिह लोकोऽथ वा परः ॥ ४८ ॥

भक्तिश्रद्धाहीनो यस्तु सर्वत्र संशयी तस्य शं सुखमिह लोके नास्ति ।  
अपिशब्दात्परलोके विषयेऽपि विज्ञानं नास्ति । अत एवेहलोकः पर-

लोकश्च नास्ति । अत एवोक्तं भगवता—“ नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ” इति ॥ ४८ ॥

लब्धज्ञानस्य संशयादयो नश्यन्तीत्याह—

आत्मज्ञानरतं ज्ञाननाशिताखिलसंशयम् ।

योगास्ताखिलकर्माणं बध्नन्ति नृप तानि न ॥ ४९ ॥

आत्मज्ञाने तदुपाये योगे रतं निष्ठावन्तं ततो लब्धेन ज्ञानेनाऽऽत्म-  
तत्त्वसाक्षात्कारेण नाशिता अखिलाः संशया येन तं ज्ञाननाशिताखि-  
लसंशयम् । आत्मा देहादिसंपातस्तदन्यो वा तदन्योऽपि कर्ता वाऽकर्ता  
वा । अकर्ताऽपि भोक्ताऽभोक्ता वा । अभोक्ताऽपि, अणुर्वि-  
भुर्वा । विभुरपि सदयो निर्दयो वेत्येवमादयो योगेनास्तान्यखिलानि  
कर्माणि येन तम् । ज्ञानी हि प्रारब्धव्यतिरिक्तं कर्म नाशयति योगी तु  
समाध्यभ्यासबलेन प्रारब्धमपि नाशयतीत्युक्तं योगास्ताखिलकर्माणमिति ।  
हे नृप तानि भक्तिहीनत्वादीनि कर्माणि वा न निबध्नन्ति ॥ ४९ ॥

ज्ञानादप्याधिक्यं योगस्य ब्रह्मार्पणयोगस्य दर्शयन्ब्रह्मार्पणयोगमुप-  
संहरति—

ज्ञानखड्गप्रहारेण संभूतमज्ञताबलात् ।

छित्त्वाऽन्तः संशयं तस्माद्योगयुक्तो भवेन्नरः ॥ ५० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्गणेशगीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृतार्थ-

शास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरे-

ण्यसंवादे ब्रह्मार्पणयोगो नाम

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

यस्मात्संशयात्मा लोकद्वयात्सुखाच्च भ्रश्यतीत्युक्तं तस्मादन्तःसंशयं  
हृद्गतमुक्तविधं संशयं ज्ञानखड्गप्रहारेण छित्त्वा योगयुक्तो भवेन्नरः ।  
किंविधं संशयम्, अज्ञताबलात्संभूतं स्पष्टार्थानि पदानि ॥ ५० ॥

श्रीचातुर्धरभाणितौ गणेशगीता-  
टीकायां गणपतिभावदीपिकायाम् ।  
गम्भीरप्रततसदर्थदर्शिकाया-  
मध्यायः स्फुटहृदयोऽभवत्तृतीयः ।

इति श्रीमत्पद्माक्ष्यप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्दसू-  
रिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां ब्रह्मार्पण-  
योगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

पूर्वस्मिन्नध्याये संयमाग्निष्वित्या[दि]ना कायिकवाचिकमानसिकानां  
सर्वेषां कर्मणामुपरतिरूपा संन्यस्तिः संन्यास उक्तः । कामाङ्कुरेत्यादिना  
तेषामेव निष्कामाणामनुष्ठानयोग उक्तः । तदनयोः पक्षयोः परस्परविरो-  
धिर्नोर्मम कतरः श्रेयानिति बुभुत्सुर्वरेण्य उवाच-

संन्यस्तिश्चैव योगश्च कर्मणां वर्ण्यते त्वया ।

उभयोर्निश्चितं त्वेकं श्रेयो यद्वद मे प्रभो ॥ १ ॥

कर्मणां संन्यस्तिरात्यन्तिकस्त्यागः । तेषामेव योगो निष्कामाणाम-  
नुष्ठानं च त्वया कर्तव्यत्वेन वर्ण्यते । चकारद्वयं परस्परसमुच्चयार्थम् ।  
एवकारः कर्मणां व्यावृत्त्या संन्यासस्यैवाभ्यर्हितत्वज्ञापनार्थः । अनयो-  
रुभयोर्मध्ये यन्निश्चितं श्रेयः प्रशस्ततरमेकमन्यतरतन्मे मह्यं वद स्पष्टं  
कथय तुशब्दस्तयोर्द्वैतोपमर्दिद्वैतोपजीविनोरत्यन्तवैलक्षण्यार्थः । हे प्रभो,  
आज्ञासमर्थ ॥ १ ॥

अस्योत्तरं गजानन उवाच-

क्रियायोगो वियोगश्च उभौ मोक्षस्य साधने ।

तयोर्मध्ये क्रियायोगस्त्यागात्तस्य विशिष्यते ॥ २ ॥

क्रियायोगो निष्कामकर्मानुष्ठानं, वियोगश्च कायिकवाचिकमानसि-  
कानां क्रियाणां त्यागश्च तदुभयं क्रमेण चित्तशोधकत्वेन तत्त्वज्ञानहे-  
तुत्वेन च मोक्षस्य साधने भवतः । तयोर्मध्ये त्यागापेक्षया कर्मयोगो

विशिष्यते । अविरक्तेन कृतस्त्याग आरुह्य पतनाय भवति । कर्मी तु न शयानः पतत्यध इति न्यायेन पतनं नाऽऽप्नोतीति भावः ॥ २ ॥

कीदृशः कर्मयोगस्त्यागाद्विशिष्ट इत्यत आह—

द्वंद्वदुःखसहो द्वेष्टा यो न काङ्क्षति किञ्चन ।

मुच्यते बन्धनात्सयो नित्यं संन्यासवान्मुखम् ॥ २ ॥

द्वंद्वानि शीतोष्णमानापमानलाभालाभजयपराजयादीनि तज्जानि दुःखानि सहत इति द्वंद्वदुःखसहः । तैरनुद्विग्न इत्यर्थः । अत एवाद्वेष्टा शत्रूणामपि नाशं नेच्छति । किञ्चन सुखप्राप्तिं दुःखनिवृत्तिं वा यो न काङ्क्षति, उदासीनवदास्त इत्यर्थः । स एवंभूतः कर्मभिरेव बन्धनादहं-ममाभिमानरूपात्पाशाच्चित्तशुद्धिबलेन स नित्यं संन्यासवानेव सन्मुखमनायासेन वाक्यश्रवणमात्रादुत्पन्नतत्त्वज्ञानः सद्यो मुच्यते ॥ ३ ॥

वदन्ति भिन्नफलकौ कर्मणस्त्यागसंग्रहौ ।

मूढाल्पज्ञास्तयोरेकं संयुजीत विचक्षणः ॥ ४ ॥

यस्मादेवं तस्मात् । यस्मादुक्तविधः कर्मयोगः संन्यासाद्विशिष्यते । एतदजानन्तो मूढाश्चाल्पज्ञाश्च मूढाल्पज्ञाः । ये ते कर्मणस्त्यागसंग्रहौ भिन्नफलकौ वदन्ति । आत्मविविदिषाफलानि कर्माणि । आत्मज्ञान-फलः संन्यास इति वदन्ति तदसत् । उक्तविधायां कर्मनिष्ठायां संन्यास-स्यान्तर्भावात् । विरक्त एतज्ज्ञानंस्तु तयोः कर्मयोगयोरेकमन्यतरं युञ्जीत । अयमर्थः—अकृतकर्माऽपि संयमबलादि(दे)व चित्तशुद्धिं ज्ञानं चेत्युभयं संपादयति । एवं कर्मठोऽप्युक्तरीत्या सिध्यतीति तयोरेकस्मिन्नेव सम्यगभ्यस्त इतरत्स्वयमेव सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

कर्मयोगयोरन्यतरत्सम्यगनुष्ठेयमित्यभिसंधाय कर्मणि योगान्तर्भावं उक्तः । इदानीं योगे कर्मान्तर्भावं विवक्षुस्तयोः फलतो भेदो नास्तीत्याह—

यदेव प्राप्यते त्यागात्तदेव योगतः फलम् ।

संग्रहं कर्मणोर्योगं यो विन्दति स विन्दति ॥ ५ ॥

यदेव फलं त्यागाद्विविधकर्मसंन्यासात्प्राप्यते तदेव द्वेद्वेतिश्लोकोक्तात्कर्मयोगतोऽपि प्राप्यते यस्मादेवं कर्मणः संग्रहं योगं संगृह्यते स्वान्त-

भूतं कर्मणः फलं क्रियतेऽनेनेति संग्रहम् । ईदृशं योगं यो विन्दति स विन्दत्यात्मानं लभते यथोक्तम् ।

प्रमादाद्योगिनः किञ्चिन्महापातकमापतेत् ।

योगमेव निषेवेत प्रायश्चित्तान्तरं तु न ॥

इति स्मृतेर्योगस्यैव सर्वपापक्षयहेतुत्वादननुष्ठिताश्रमत्रयकर्माऽपि सदा-  
चार्यप्रसादलब्धया युक्त्या योगमेवाभ्यस्य कृत्स्नप्रतिबन्धकनिवृत्तिपूर्वक-  
मात्मानं विन्दतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

वैराग्यरहितं केवलं कर्मणां न्यासं विनिन्दति—

केवलं कर्मणां न्यासं संन्यासं न विदुर्बुधाः ।

कुर्वन्ननिच्छया कर्म योगी ब्रह्मैव जायते ॥ ६ ॥

अविरक्तस्य संन्यासो निष्फलः प्रत्युत प्रत्यवायफल इति पूर्वार्ध-  
स्यार्थः । कैर्मतोऽपि निस्पृहश्चित्तशुद्धिक्रमेणोत्पन्नज्ञानो ब्रह्मैव भवती-  
त्युत्तरार्धार्थः । अक्षरयोजना स्पष्टा ॥ ६ ॥

अत एव क्रममाह—

निर्मलो यतचित्तात्मा जितस्वो योगतत्परः ।

आत्मानं सर्वभूतस्थं पश्यन्कुर्वन्न लिप्यते ॥ ७ ॥

निष्कामधर्मानुष्ठानाश्चित्तशुद्धौ सत्यां रागद्वेषादिमलहीनो भवति ।  
ततः प्रवर्तकयो रागद्वेषयोरभावादिदं मे भूयादिदं मे मा भूदितीच्छाही-  
नत्वाद्यतमुपरतं चित्तं यस्य यतचित्तः । यतचित्तत्वादेव यतात्मा कर्मेन्द्रि-  
यव्यापारहीनो भवति स एवंभूतोऽन्तर्मुख ईश्वरे दत्तदृष्टिः स्वस्वविष-  
येभ्यः प्रत्याहृतसर्वकरणः क्रियताऽपि कालेन जितेन्द्रियो भवति । ततो  
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । तदेव परं कार्यं यस्य स तथाभूतः । अयं भावः—  
त्यक्तबाह्यविषयस्यान्तर्हृदये मनोमात्रेणावस्थितो योगी सर्वं त्रैकालिकं  
द्वैतं स्वसंकल्पमात्राध्यस्तत्वात्प्रतीचोऽनन्यदिति युक्त्येदं सर्वं यद्यमा-  
त्मेतिशास्त्रेण पश्यति । तदेतदाह—आत्मानं सर्वभूतस्थं पश्यन्निति । यस्मा-  
त्संकल्पमात्रेणोत्थितं कृत्स्नं जडाजडं तत्र जडेषु भूतेषु रज्जूरगोपमेष्व-  
नुगतमधिष्ठानसत्तामात्ररूपमात्मानं यः पश्यति स जडाजडविवेकदर्शी

पुण्यानि च पापानि च कुर्वन्नपि तत्फलैः सुखदुःखैः स्वर्गनरकरूपैर्वा न लिप्यते । तथा च श्रुतिर्योगिनः पुण्यपापाश्लेषं दर्शयति—“ यथा पुष्कर-पलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते ” ( छा०-४।१४।३ ) इति । पापमिति पुण्यस्याप्युपलक्षणं, नन्वेवं नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपीतिवचनाद्योगिना कृतयोरपि पुण्यपापयोः किञ्चित्कालं प्रतिबन्धेऽपि कालान्तरेऽप्यवश्यंभावी भोग इत्यापततीति चेन्न । तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सर्वे सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामिति योगिनो मित्रामित्रेभ्येव तत्फलप्रक्षेपाद्युक्तमुक्तं कुर्वन्न लिप्यते ॥ ७ ॥

न केवलमपरोक्षीकृतात्मयाथात्म्य एव कर्मभिर्न निबध्यत इति । अपि तु परोक्षज्ञानवानपि सङ्गफलत्यागात्कर्मफलैर्न लिप्यत इति प्रागुक्तमेव स्मारयति—

तत्त्वविद्योगयुक्तात्मा करोमीति न मन्यते ।

एकादशानीन्द्रियाणि कुर्वन्ति कर्मसंख्यया ॥ ८ ॥

यस्तु पारोक्ष्येणैवाऽऽत्मतत्त्व ज्ञात्वा तद्वाभार्थं कर्म योगेन युक्त आत्मा देहेन्द्रियादिसंघातो यस्य तादृशः । अहमिदं करोमीत्यात्मनि कर्तृत्वं न मन्यते । कस्तर्हि करोतीत्यत आह—एकादशानीति । एकादशसंख्याकानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनश्च, एतान्येव विकारित्वात्कर्माणि कुर्वन्ति न त्वविकार आत्मा यथा सुषुप्तस्य पुरुषस्य प्राणादयोऽन्नपचनादिकं कुर्वन्त एवाऽऽसते न तु तत्र पुरुषोऽहं करोमीति मन्यते, एवं जाग्रदपि कर्तृत्वाभिमानशून्यान्कुर्वन्नपि न तैर्लिप्यत इत्यर्थः । यथोक्तं भगवता—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ इति ॥ ८ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

तत्सर्वमर्पयेद्ब्रह्मण्यपि कर्म करोति यः ।

न लिप्यते पुण्यपापैर्भानोर्भानुर्यथाऽर्थगः ॥ ९ ॥

यः सङ्गं त्यक्त्वा कर्म करोति स सर्वमपि तत्कर्म ब्रह्मण्यर्पयेत् । ततश्च स पुण्यपापैरीश्वरेऽर्पितैस्तत्सुखदुःखफलैर्न लिप्यते । तत्र दृष्टान्तः—सूर्यस्य

रश्मिर्मेध्यामेध्यस्पृगपि न स्वयं मेध्यत्वममेध्यत्वं वा स्पृशति तद्वदय-  
मित्यर्थः ॥ ९ ॥

फालितमाह-

कायिकं वाचिकं बौद्धमैन्द्रियं मानसं तथा ।

त्यक्त्वाऽऽशां कर्म कुर्वन्ति योगज्ञाश्चित्तशुद्धये ॥ १० ॥

योगज्ञाः कर्तृत्वाभिमानत्यागपूर्वकं कर्मानुष्ठानं योगः । तदाभिज्ञाः  
फलाशां त्यक्त्वा चित्तशुद्धये कर्म कुर्वन्ति नित्यं नैमित्तिकं चेति विशेषः ।  
कर्म विशिनष्टि-कायिकं तीर्थस्नानगुरुदेवतानमस्कारादि । वाचिकं स्तोत्र-  
जपादि । बौद्धं बुद्धिकृतं देवताध्यानादि । ऐन्द्रियमृतुकाले भार्योपगम-  
नादि । मानसं रागद्वेषौ विना जगत्कल्याणचिन्तनम् । अत्र चित्तशुद्धय  
इतिवचनान्निषिद्धानां काम्यानां च सङ्गफलत्यागपूर्वकमप्यनुष्ठितानां  
चित्तशुद्ध्यर्थत्वं न प्राप्नोति । अतो येषां तत्संभवति तान्येव कर्माणीह  
कर्तव्यानीति विधीयते ॥ १० ॥

विपक्षे बाधकमाह-

योगहीनो नरः कर्म फलेहया करोत्यलम् ।

बध्यते कर्मबीजैः स ततो दुःखं समश्नुते ॥ ११ ॥

योगः कर्तृत्वाभिमानत्यागस्तेन हीनो नरो देहाभिमानी, कर्म  
लौकिकं वैदिकं च फलेहया फलप्राप्तीच्छया, अलमत्यर्थं करोति । इदं  
मया सम्यक्कृतमिति भूषयति वा यः स कर्मबीजैः कर्मप्रवृत्तिहेतुभिर्वा-  
सनाभिर्बध्यते त्यक्तदेहोऽपि वासनापाशबलादपि देहान्तरेण बध्यते ।  
ततश्च लब्धजन्मा प्राप्तव्यकर्मानुसारेण दुःखं सम्यगश्नुते । कर्म तद्वासना-  
धारोऽपि कदाचिन्न विच्छिद्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

कथं तर्हि तदुच्छेदोऽत आह-

मनसा सकलं कर्म त्यक्त्वा योगी सुखं वसेत् ।

न कुर्वन्कारयन्वाऽपि नन्दञ्श्वप्ने सुपत्तने ॥ १२ ॥

योगी यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपैरष्टभि-  
रङ्गैर्युक्तो योगोऽस्यास्तीति योगी । अत एव मनसा सह सकलं कर्माहं  
ब्रह्मेतिवाक्यार्थानुसंधानमपि त्यक्त्वा निर्बीजसमाधिस्थः सन्सुखम-

खण्डानन्दमनुभवन्वसेदासीत् । ततश्च निर्विकल्पत्वादेवाकुर्वन्नपि भवति ।  
कारयन्नपि न भवति । अतः श्वभ्रे महति कारागाररूपे गते वा  
पत्तने राजधान्यां राज्यं कुर्वन्वा निर्मनस्कत्वान्नन्दन्स्वरूपानन्दरूपेण  
तिष्ठन् । निर्विकल्पस्य योगिनो बाह्यस्पर्शदुःखं नास्तीत्याह श्रुतिरपि—

“आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।

किमस्मिन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्” (बृ० ४।४।१२) इति ॥ १२ ॥

ननु यद्यात्मा निर्विकल्पस्तर्हि प्रमातृत्वादिविकल्पः कुत उत्तिष्ठती-  
त्याशङ्क्याऽऽह—

न क्रिया न च कर्तृत्वं कस्यचित्सृज्यते मया ।

न क्रियाबीजसंपर्कः शक्त्या तत्क्रियतेऽखिलम् ॥ १३ ॥

मया निर्विकल्पेन, क्रिया प्रवृत्तिः । कर्तृत्वं करोमीत्यभिमानः । कस्य-  
चिज्जन्तोः । न सृज्यते नोत्पाद्यते । तथा क्रियाबीजभूताः फलक्रियायां  
प्रवर्तकाः फलप्राप्तिवासनास्ताभिः संपर्को वा मया न सृज्यते । किं तु  
क्रियाकर्तृत्वं तद्वासनाश्चेत्यादिकमखिलं क्रियाकारकफलं सर्वं शक्त्या,  
“देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्” ( श्वे० १।३ ) इति श्रुतिप्रसिद्धया प्रमा-  
णगोचरत्वान्निगूढया गुणैः कायैरेतै रज्जूरगभ्रमादिभिस्तमोरजःसत्त्वकार्यै-  
र्मूलाज्ञानेनैव लोहायस्कान्तन्यायेन शक्त्यैव क्रियत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अतोऽकर्तृत्वादिसंघाताद्विविक्तः सर्वप्राणिनां प्रत्यगात्माऽहं संघात-  
कृतानि पुण्यपापानि न स्पृशामीत्याह—

कस्यचित्पुण्यपापानि न स्पृशामि विभुर्नृप ।

ज्ञानमूढा विमुह्यन्ति मोहेनाऽऽवृतबुद्धयः ॥ १४ ॥

कस्यचिज्जन्तोः कर्तृत्वाभिमानिनः पुण्यानि पापानि च न स्पृशामि  
यतो विभुर्व्यापक आकाशवदसङ्ग इत्यर्थः । हे नृप यस्मादेवं तस्माज्ज्ञा-  
नमूढा ज्ञाने ब्रह्मणि विषये ये मूढा असङ्गमात्मानं न जानन्ति । ते  
कर्तृत्वाभिमानाद्विमुह्यन्ति विशेषेण यातायातनरकदुःखादिना विमु-  
ह्यन्ति । ज्ञानमूढत्वमेवातस्तेषामित्यत आह—मोहेनाऽऽवृतबुद्धय इति ।

१ क. ख. °देवकु° । २ क. ख. °पि भ° । ३ क. ख. नु ह्यात्मा । ४ क. दिनिर्वि° । ख.  
°दिविक° । ५ क. ख. °मेव ततस्ते° । ६ क. ख. °ति । अन्यद° ।



आत्मदर्शने शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृता बुद्धिः करणं सैव यदा मोहेनाऽऽवृता तदाऽऽत्मदर्शनाभावाद्नात्मसुखार्थिनो मुह्यन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

ज्ञानेनाज्ञाननाशे तु न मुह्यन्तीत्याह—

विवेकेनाऽऽत्मनोऽज्ञानं येषां नाशितमात्मना ।

तेषां विकाशमायाति ज्ञानमादित्यवत्परम् ॥ १५ ॥

विवेकेन समाध्यभ्यासपाटवाज्जडाजडयोः पृथक्करणेनाऽऽत्मनः संबन्धि, आत्माश्रयमात्मविषयं चाज्ञानं येषां पुंसाम् । आत्मना, बुद्ध्याऽहं ब्रह्मास्मीतिवाक्यजन्यया बुद्धिवृत्त्या नाशितं कार्येण सह बाधितं, तेषां पुरुषाणां ज्ञानमादित्यवत्प्रकाशं परं विकाशमायाति । अयमर्थः— बृहदारण्यके न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भयत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवतीति संसारिणमात्मानं प्रस्तुत्य “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” ( बृ० २।४।५ ) इति तस्यैव द्रष्टव्यत्वमुक्त्वा, आत्मनो वा अरे दर्शनेनेत्यादिना, इदं सर्वं विदितं भवतीत्यन्तेनाऽऽत्मविज्ञानात्सर्वविज्ञानं फलमुक्तं तच्चाऽऽत्मनः सार्वान्त्र्यमन्तरेणानुपपन्नमिति तस्येदं सर्वं यद्यमात्मेति सार्वान्त्र्यं समर्पितम् । तस्माद्युक्तमुक्तं विदुषां ज्ञानमादित्यवाद्विकाशमायातीति ॥ १५ ॥

अस्यैव विज्ञानस्य फलमाह—

मन्निष्ठा मद्ध्योऽत्यन्तं मच्चिता मयि तत्पराः ।

अपुनर्भवमायान्ति विज्ञानान्नाशितैतनसः ॥ १६ ॥

मन्निष्ठा मयि, परमात्मनि निष्ठावन्तः । तादृशोऽपि भरतो मृगासक्तधीर्मुगत्वं लेभे, अत उक्तम्—अत्यन्तं मद्ध्य इति । मन्निष्ठो मन्द्वीरपि सौभरिः क्षणमात्रं कुटुम्बिनो मत्स्यस्य नीठां दृष्ट्वा तत्र दत्ताचित्तः पञ्चाशन्मान्धातुकन्याभिः सह कायव्यूहेन तावतः प्रासादोद्यानपरिवारान्योगबलेन सृष्ट्वा रेमे । ततः क्षीणपुण्यो योगभ्रष्टोऽभूत् । अत उक्तं मच्चिता इति । एवं रावणः प्रकारत्रयेण तपोनिष्ठोऽप्यैश्वर्यपरोऽभून्न परमार्थपरः । अत उक्तं तत्परा इति । एवं विशेषणचतुष्टयवन्तो योगिन आत्मानं पश्यन्ति । ततश्चाऽऽत्मविज्ञानान्नाशितैतनसो भस्मीकृतपुण्यपापा अपुनर्भवं पुनर्जन्माभावं कैवल्यमायान्ति कात्स्न्येन प्राप्नुवन्ति ॥ १६ ॥

विज्ञानस्यापि फलं सर्वेषु भूतेषु समत्वदर्शनमित्याह—

ज्ञानविज्ञानसंपन्ने द्विजे गवि गजादिषु ।

समेक्षणा महात्मानः पण्डिताः श्वपचे शुनि ॥ १७ ॥

ज्ञानं, शास्त्राचार्योपदेशजो बोधः । विज्ञानं, योगेन तदनुभवः । ताभ्यां संपन्ने द्विजे त्रैवर्णिके । ततो निकृष्टेषु गवि गजादिषु च पशुषु च तेभ्यो निकृष्टे श्वपचे चण्डाले शुनि सारमेये च पण्डिता व्युत्पन्नचित्ताः समेक्षणाः समं ब्रह्म तदेवेक्षन्ते पश्यन्तीति समेक्षणाः सर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्य इत्यर्थः । एतदेव कुत इत्यत आह—महात्मान इति । महान्परिच्छेदत्रयशून्य आत्मा येषां ते महात्मानः । आत्मनः सार्वत्रिकं साक्षात्कृतवन्तः सर्वमात्मत्वेन पश्यन्तः क्वचिदपि तारतम्यं न पश्यन्त इत्यर्थः ॥ १७ ॥

ईदृशं समदर्शनं दाम्भिकस्यापि संभवतीति तद्यावृत्त्यर्थं ज्ञानस्य दृष्टं फलमाह—

वश्यः स्वर्गो जगत्तेषां जीवन्मुक्ताः समेक्षणाः ।

यतोऽदोषं ब्रह्म समं तस्मात्तैर्विषयीकृतम् ॥ १८ ॥

तेषां योगिनां ब्रह्मदर्शिनां स्वर्गः स्वर्गस्थो देवतागणोऽपि वश्योऽधीनो भवति । तथा हि वृष्टम्—धृतराष्ट्रबोधाय विदुरेण ब्रह्मलोकस्थोऽपि सनत्कुमार आहूय नियोजित इति । तथा जगदपि भूतभौतिकं तेषां वश्यं भवति । स्मर्यते ह्यनन्तयोजनायामविस्तारः समुद्रः कुम्भोद्भवेन प्रादेशमात्रे स्वोदरे निवेशित इति । जीवन्मुक्ता जीवन्तः प्राणान्धारयन्त एव निर्विकल्पसमाधौ सर्वैरुपाधिभिर्मुक्ताः । अत एव व्युत्थानकालेऽपि ब्रह्मैव जगद्रूपेण कचति मरीयावयव इव महाहृदरूपेणेति । सम ईक्षणं दर्शनं येषां ते समेक्षणाः । ब्रह्मैवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वमहमेवेदं सर्वमिति पश्यन्त इत्यर्थः । यतो यस्माद्धेतोरदोषं मायासंपर्कशून्यं ब्रह्म समं, सैदेकरूपं तस्माद्धेतोस्तैः शास्त्रज्ञैः । तद्ब्रह्म विषयीकृतं साक्षात्कृतम् । तथा च योगसूत्रम्—“सत्त्वगुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च” इति । चिदचिद्विवेकफलं दर्शयति ॥ १८ ॥

स्वसंवेद्यमपि ज्ञानफलमाह—

प्रियाप्रिये प्राप्य हर्षद्वेषौ ये प्राप्नुवन्ति न ।

ब्रह्माश्रिता असंमूढा ब्रह्मज्ञाः समबुद्धयः ॥ १९ ॥

ये प्रियं प्राप्य हर्षं न प्राप्नुवन्ति । अप्रियं प्राप्य द्वेषं न प्राप्नुवन्ति । तत्र हेतूनाह-ब्रह्माश्रिता ब्रह्मज्ञाननौकयैव ब्रह्मसंसारार्णवं तरिष्याम इति बुद्ध्या ब्रह्मैवाऽऽश्रिता इत्यर्थः । अत एवासंमूढाः स्वहितोपायदर्शिनः । ब्रह्मज्ञाः पारोक्ष्येण ज्ञातात्मतत्त्वाः । तत एव समबुद्धयः समाऽविक्षिप्ता बुद्धिर्येषां ते । तथाभूता ये ते ब्रह्म विषयी कुर्वन्तीति पूर्वेष्वेणान्वयः ॥ १९ ॥

ज्ञानस्यापि फलं सर्वज्ञत्वादधिकमुक्तम् । एवं योगस्यापि तदेव फल-मुक्तं तदनयोर्मार्गयोः कतरः श्रेयानित्याशयवान्वरेण्य उवाच-

किं सुखं त्रिषु लोकेषु देवगन्धर्वयोनिषु ।

भगवन्कृपया तन्मे वद विद्याविशारद ॥ २० ॥

सुखयतीति सुखं सुखसाधनं त्रिषु लोकेष्वित्यादि चतुर्दशभुवनानामुपलक्षणम् । कृत्स्नब्रह्माण्डगोलके निरतिशयसुखसाधनं ज्ञानं योगो वेति । हे भगवन्पूर्णज्ञानैश्वर्यं । कृपया करुणया तन्मे मह्यं वद ब्रूहि । विद्याविशारदेति संबोधयन्विद्यासंप्रदायप्रवर्तकत्वात्त्वमेवैतद्वक्तुमर्हसीति सूचयति ॥ २० ॥

उक्तविधे मार्गे समनस्कानामिन्द्रियाणामैकाग्र्यमत्यन्तं दुष्करमिति वरेण्यैर्नृपस्यानधिकारं मत्वा योगमार्गमेवोपदिदिक्षुर्गजानन उवाच-

आनन्दमश्नुतेऽसक्तः स्वात्मारामो निजात्मनि ।

अविनाशं सुखं तद्धि न सुखं विषयादिषु ॥ २१ ॥

असक्तः कोशस्थूलसूक्ष्मकारणशरीरेषु स्वात्म्याभिमानहीनः । तेभ्यो विविक्तमात्मानं शास्त्राज्ज्ञानन्नित्यर्थः । निजात्मनि, आस्मिन्नेव देहे स्वात्मारामः स्वश्चासावात्मा च तस्मिन्नेवाऽऽरमतीति स्वात्मारामः । तत्तत्कोशात्मतां त्यक्त्वा निरुपाधावात्मनि रममाण इत्यर्थः । स एवं विध आनन्दं कोशपञ्चकातीतं वस्तु, अश्नुते व्याप्नोति तन्मात्रो भवतीत्यर्थः । एतदेव स्तुत्वाऽन्यन्नित्युत्तरार्धेन स्पष्टमेतत् ॥ २१ ॥

न सुखं विषयादिष्वेतदेव विवृणोति-

१ ख. 'शयेनाऽऽह । वरे' । २ क. 'न यो' । ख. 'न योग वेति । हे' । ३ ख. 'द्याप्र' । ४ ख. 'प्यस्या' । ५ 'नाशिस' । ६ 'नमस्त्वोत्तरार्धादेनोत' ।

विषयोत्थानि सौख्यानि दुःखानां तानि हेतवः ।

उत्पत्तिनाशयुक्तानि तत्राऽऽसक्तो न तत्त्ववित् ॥ २२ ॥

विषयोत्थं हि सुखं संस्काररूपेणाऽऽत्मानि स्थित्वा कालान्तरे तत्रेच्छां जनयति । इच्छावांश्च तत्प्राप्त्युपाये प्रवर्तते प्रवृत्तश्च केनचिन्निमित्तेन प्रतिबद्धः क्रोधेन प्रतिबन्धकान्धिनस्ति । ततश्च तैर्बध्यत इति तेषां दुःखहेतुत्वं तस्मादागमापायिनि विषयसुखे यः सक्तः स न तत्त्ववित् ॥ २२ ॥

एवमभ्यासे रत्युत्पादनार्था ज्ञानप्रशंसा, तीव्रवैराग्योत्पादनार्था विषयभोगनिन्दा च कृता, इदानीं कामक्रोधयोरेव जयोऽवश्यं कार्य इत्याह—

कारणे सति कामस्य क्रोधस्य सहते च यः ।

तौ जेतुं वर्ष्मविरहात्स सुखं चिरमश्नुते ॥ २३ ॥

कामस्य कारणे दिव्यरूपादिलाभे सति तं कामं जेतुं वैराग्यबलेन यस्तुच्छीकर्तुं सहत उत्सहते, एवं क्रोधस्यापि कारणेऽपमानादौ खलैः कृते सति यस्तं क्रोधं जेतुं सहते वर्ष्मविरहादेतच्च सहनम्, आदेहवि-योगात्कर्तव्यम् । वर्ष्मेत्येतः पूर्वमाकारो द्रष्टव्यः । आशरीरविमोक्षणादिति भगवद्वचनात् । अथ वा वर्ष्मविरहादित्यस्य वर्ष्मविरहमभिव्याप्येति ल्यब्लोपे वा पञ्चमी । यः सहते स सुखं चिरमश्नुत इति संबन्धः ॥ २३ ॥

जितकामक्रोधः किमाप्नुयादित्यत आह—

अन्तर्निष्ठोऽन्तःप्रकाशोऽन्तःसुखोऽन्तारतिर्लभेत् ॥

असंदिग्धोऽक्षयं ब्रह्म सर्वभूतहितार्थकृत् ॥ २४ ॥

कामक्रोधौ जितवतो बहिर्मुखत्वस्य स्वत एव व्यावृत्तत्वात् । अन्तर्निष्ठो गुरुक्तयुक्त्या हृदयपुण्डरीकोद्घाटने निष्ठावान् । अत एवा-न्तःप्रकाशो हार्दाकाशगतान्सर्वान्भावानादित्यवत्प्रकाशयति । अत एवान्तःसुखः कृतकृत्योऽस्मीत्यन्तरेव सुखं लभते । यतोऽन्तःसुखं लभतेऽतोऽन्तरेव, उच्छिन्नसर्वसंशयः प्रीतिर्यस्य स तथाविधोऽन्तारतिर्भवति । रो रीति रेफलोपे द्रूलोप इति पूर्वस्य दीर्घः । एवंभूतोऽक्षयं ब्रह्म लभेत् । ततश्चात्रासंदिग्धो भवेत् । क एवं ब्रह्म लभत इत्यत आह—सर्वभूतहि-तार्थकृत्सर्वभूतसुहृत्संन्यासीत्यर्थः ॥ २४ ॥

न केवलेन संन्यासेनैतद्भवतीत्याह-

जेतारः षडरीणां ये शमिनो दमिनस्तथा ।

तेषां समन्ततो ब्रह्म स्वात्मज्ञानां विभात्यहो ॥ २५ ॥

षण्णां कामक्रोधलोभमोहमदमत्सराणामान्तराणामरीणां शत्रूणां जेतारः । शमो मनोनिग्रहस्तद्वन्तः शमिनो दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहस्तद्वन्तो दमिनश्च ये भवन्ति तेषां स्वात्मज्ञानाभिदं सर्वं यद्यमात्मेति, आत्मनि-  
सार्वार्थ्यं समाधौ सम्यग्ज्ञानतां विक्षेपावस्थायामपि समन्ततः सर्वत्र ब्रह्मैव विभाति । अहो आश्चर्यं । तथा च श्रुतिः-अहमन्नमित्यादिः प्रागेवोदाहृता । श्रुत्यन्तरमपि “ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणत-  
श्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ” ( मु० २।२-  
११ ) इति ॥ २५ ॥

अथ चित्तनिग्रहासमर्थस्य हठयोगमाहाऽऽसनेष्वित्यादिनाऽध्यायशेषेण-

आसनेषु समासीनस्त्यक्त्वेमान्विषयान्वहिः ।

संस्तभ्य भृकुटीमास्ते प्राणायामपरायणः ॥ २६ ॥

आसनेषु पद्मस्वस्तिकादिषु समासीनः सम्यक्सुखं यथा स्यात्तथा-  
ऽऽसीनः । यथा सूत्रितं स्थिरं सुखमासनमिति । तेनासुखकराणां कुक्कु-  
टाद्यासनानां निवृत्तिः । इमांभूपादीन्विषयान्वहिरन्तस्त्यक्त्वाऽन्तर्म-  
नसाऽपि न संस्मरेदित्यर्थः । भृकुटीं भ्रूद्वयनासामूलानामन्तरादेशो  
भृकुटिः । तत्र संस्तभ्य भ्रूघ्राणमध्ये दृष्टिं निबध्येत्यर्थः । ततश्च प्राणा-  
नामायामे निग्रहे परायणः । तन्मात्रपर इत्यर्थः । सुदृढ आसने स्थित्वा  
भ्रूघ्राणसंधौ दृष्टिमाधाय प्राणायाममभ्यसेदित्यर्थः ॥ २६ ॥

प्राणायामलक्षणमाह-

प्राणायामं तु संरोधं प्राणापानसमुद्भवम् ।

वदन्ति मुनयस्तं च त्रिधाभूतं विपश्चितः ॥ २७ ॥

प्राणापानाभ्यां समुद्भवो यस्य तादृशं संरोधं प्राणापानयोरैक्यं  
संपाद्य यः संरोधः स प्राणायाम इत्यर्थः । अयं भावः-प्राणापानयोर्हि

१ क. षडरिपूणां । २ ख. 'म्यक्सुखं । ३ घ. 'मान्त्र्यादी' । ४ क. 'पि स्म' । ५ ख.  
भ्रूवलया नामासू । ६ ख. भ्रूम ।

नाभिदेशे ग्रन्थिरस्ति तत ऊर्ध्वया नाड्या मुखनासिकाद्वारेण बहिर्गच्छन्वायुः प्राणः । तत एव नाभिदेशादवाचीनैर्नाडिमार्गैरधः प्रसरन्वायुमार्गेण बहिर्निर्गच्छन्वायुरपानः । तत्र पायुद्वारं पार्णिना निरुध्यापानमूर्ध्वमुखं कुर्वन्प्राणं च पूरकेण बाह्यवायुमाचम्याधोनयनगतिरोधादुभावन्त्योन्यसंमुखौ कुर्वन्त्यस्तयोरेकीकृतयोर्निरोधः स संरोधः । तमेवंभूतं प्राणायामं कालप्रमाणभेदेन विपश्चितः पण्डिता मुनयः प्राणायामकुशला उत्तममध्यमाधमभावेन तं त्रिधाभूतं वदन्ति कथयन्ति ॥ २७ ॥

तदेवाऽऽह द्वाभ्याम्—

प्रमाणभेदतो विद्धि लघुं मध्यममुत्तमम् ।

दशमिर्द्यधिकैर्वर्णैः प्राणायामो लघुः स्मृतः ॥ २८ ॥

हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवदित्यन्यत्र दर्शनात्सार्धमात्रात्रयरूपस्य प्रणवस्य प्लुतीकरणेन यदतिस्पष्टमुच्चार्यं तत्र वर्णप्रमाणकालो विनाडीषष्ठीभागो(?) मात्राद्वयसंमितः । दीर्घीकृतः प्रणवस्तु चतुर्मात्राकालो भवति स एकस्मिन्संरोधे द्वादशकृत्वः प्रणवोच्चारणं यदा भवति स लघुप्राणायामः ॥ २८ ॥

चतुर्विंशत्यक्षरो यो मध्यमः समुदाहृतः ॥

षट्त्रिंशल्लघुवर्णो य उत्तमः सोऽभिधीयते ॥ २९ ॥

ततो द्विगुणकालश्चतुर्विंशतिकृत्वः प्रणवोच्चारणपर्याप्तो मध्यमः । एवं लघुप्राणायामे यादृशकालाः प्रणवा उच्चारितास्तादृशकालैः षट्त्रिंशता प्रणवैरुत्तमः प्राणायामो भवति । तत्र सक्तानां द्वित्रिमात्रैरेव प्रणवैः सर्वे प्राणायामा भवन्ति । शक्तशक्ततरशक्ततमानां तारतारतरतारतमैस्ते भवन्ति । एतच्च लघुवर्णैरित्यनेन सूचितम् । अक्षरयोजना स्पष्टा ॥ २९ ॥

अनेन क्रमेण प्राणापानौ वशे कर्तव्याविति सदृष्टान्तमाह—

सिंहं शार्दूलकं वाऽपि मत्तेभं मृदुतां यथा ।

नयन्ति प्राणिनस्तद्वत्प्राणापानौ सुसाधयेत् ॥ ३० ॥

शार्दूलकं दुष्टव्याघ्रं प्राणापानौ मृदूकृत्य सुसाधयेत्प्राज्ञ इति शेषः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३० ॥

प्राणजये गुणानाह—

पीडयन्ति मृगांस्ते न लोकान्वश्यंगतानृप ।

दहत्येनस्तथा वायुः संस्तब्धा न च तत्तनुम् ॥ ३१ ॥

ते प्राणजयिनः सर्वेषु भूतेष्वेकां प्राणदेवतां मत्वा स्वात्मानमिव मृगानारण्यान्न पीडयन्ति सर्वात्मना प्राणिहिंसां न कुर्वन्ति । यद्यपि पाठीनरोहितावाद्यौ प्रशस्तौ हव्यकव्ययोरितिशास्त्राच्छ्राद्धादौ निमित्ते प्राणिवधः कर्तव्य इति प्राप्नोति तथाऽपि न कुर्वन्ति । अहिंसामेव ततोऽभ्यधिकां मन्यन्त इत्यर्थः । तथा प्राणविद्याबलादेव लोकान्भोग्यपदार्थान्दिव्यरूपादीन्वश्यंगतान्स्वाधीनत्वं गतानपि हे नृप न पीडयन्ति । नानुपहत्य भूतानि भोगः संभवतीतिन्यायेन तद्भोगेऽपि हिंसादोषं पश्यन्त उदासत इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—दहत्येनस्तथा वायुरिति । एनसः फलमर्थित्वमिति स्मृतेः सर्वं ह्यर्थित्वमेनस एव फलं तच्चैनो वायुः प्राणवायुराराधितः संस्तब्धा दहतौ यथास्यार्थित्वं सर्वदा नोदेति अतः प्राणायामैर्दहेदेन इति शास्त्राद्वर्गधेनसां प्राणिनां न भोगेच्छा भवतीत्यर्थः । ननु योगिनां स्मृतिलोपादयोऽपि दोषाः स्मर्यन्ते तत्कथं प्राणायामस्य तीव्रवैराग्यकारित्वं वर्ण्यत इत्यत आह—संस्तब्धा न च तत्तनुमिति । तस्य प्राणायामपरस्य तनुं शरीरं समनस्कं न च संस्तब्धा । सम्यगाराधितः प्राणो योगिनश्चित्तस्य शरीरस्य वा स्तम्भनं न करोति । संस्तब्धेति लुङन्तम् । स्मृतिलोपादयस्तु प्रमत्तस्यैव योगिनो भवन्ति । नात्यन्तावहितस्येति भावः ॥ ३१ ॥

एवं प्राणायामस्यावान्तरफलमुक्त्वा सदृष्टान्तं तद्वृद्धिं विधत्ते—

यथा यथा नरः कश्चित्सोपानावलिमाक्रमेत् ।

तथा तथा वशी कुर्यात्प्राणापानौ हि योगवित् ॥ ३२ ॥

सोपानारोहणवत्प्राणजयकक्ष्या अप्युत्तरोत्तरक्रमेणैव वर्धयेत् । कस्तत्त्वविदिति वृद्धिक्रमं तत्त्वतो जानन् । न ह्यधरपङ्क्तिस्थः प्राणायाम्यकस्मादुत्तरां पङ्क्तिमारोढुमर्हति । तदारोहार्थं यतमानस्त्ववश्यं व्याध्यादिना बाध्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अस्यैव विशेषं तत्फलं चाऽऽह—

पूरकं कुम्भकं चैव रेचकं च ततोऽभ्यसेत् ।

अतीतानागतज्ञानी ततः स्याज्जगतीतले ॥ ३३ ॥

पूरको नासापुटेन बाह्यवायोराचमनं कुर्यात् । इडया पिब षोडशभिः पवनमित्युक्तेः । कुम्भकः पीतस्य वायोरन्तर्निग्रहणम् । चतुरुत्तरषष्टिभिरुद्ग्रहणं रेचकम् । त्यज पिङ्गलकया शनकैः शनकैर्दशभिर्दशभिर्दशभिर्द्वाधिकैर्द्विगुणैरिति । एवमभ्यस्यतः फलमाह—अतीतेति । स्पष्टोऽक्षरार्थः ॥ ३३ ॥

अस्यैव वृद्धिक्रममाह—

प्राणायामैर्द्वादशभिरुत्तमैर्धारणा मता ।

योगस्तु धारणे द्वे स्यादयोगीशस्तं सदाऽभ्यसेत् ॥ ३४ ॥

उत्तमैः षट्त्रिंशत्पणवकैर्द्वादशभिः प्राणायामैरेकेयं धारणा मता वायोरिति शेषः । एतावता प्राणायामाभ्यासेन योगी मूलाधारादिस्थानेषु यत्र यत्र वायुं धारयितुमिच्छति तत्रैव तं धारयितुं शक्नोतीत्यर्थः । एषैव द्विगुणाभ्यस्ता चेदत्यन्तं स्वतन्त्रो योगी भवति । ततश्च पक्षं मासमधिकं वा सकलं वायुं निरोद्धुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

एतत्फलमाह—

एवं यः कुरुते राजंस्त्रिकालज्ञः स जायते ।

अनायासेन तस्य स्याद्वश्यं लोकत्रयं नृप ॥ ३५ ॥

ननु केवलात्प्राणजयाद्धारणाभिर्वा त्रिकालज्ञत्वं सर्वभूतवश्यत्वं वा न संभवति प्राणायामैर्दहेदेनो धारणाभिश्च किल्बिषानिति तयोर्दोषनाशकत्वस्यैव स्मरणादिति चेन्न । सर्वज्ञत्वमाधिकारकमिति न्यायेन तयोस्तत्फलकत्त्वोपपत्तेः । यथोत्तरक्रतुसाध्येषु सर्वेषु कामेषु स्पृहावतां पुरुषाणां प्रोत्साहनार्थमुत्तरक्रतुसाधनभूताग्निसिद्धिहेतावाधानाङ्गपूर्णाहुत्यामुपचारात्पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानवाप्नोतीति सर्वकामावाप्तिहेतुत्वं स्तुत्यर्थमुच्यत एवमिहापि ध्यानसाधनाधिकारद्वारादेतौ प्राणायामध्यानफलत्रिकालज्ञत्वं जगद्वश्यत्वं च स्मर्यमाणमाधिकारिकमिति ज्ञेयम् ।



ध्यानेनानैश्वरान्गुणानितिस्मृतेः ॥ ३५ ॥

वश्यं लोकत्रयं नृपेत्यन्तेन योगफलमुक्त्वा संन्यासशब्दितस्य तत्फलस्य ज्ञानस्य फलमाहार्धेन—

ब्रह्मरूपं जगत्सर्वं पश्यन्ति स्वान्तरात्मनि ।

संन्यासिनस्तु स्वस्यान्तरात्मनि हृत्पुण्डरीकान्तर्गते हार्दाकाशाख्ये ब्रह्मणि ब्रह्मरूपं प्रत्यङ्गनन्यस्वरूपं सर्वं जगत्पश्यन्ति ।

तदिदं ज्ञानफलमुक्तम् । एवमुक्तयौज्ञानफलयोरभेदात्तयोरप्यभिन्नत्वमित्याह—

एवं योगश्च संन्यासः समानफलदायिनौ ॥ ३६ ॥

अत्र संन्यासपदेनोपचाराज्ज्ञानमुच्यते । एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति विविदिषासंन्यासस्याऽऽत्मज्ञानार्थत्वात् । एतं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीति विद्वत्संन्यासस्य च ब्रह्मज्ञानपरिपाकार्थत्वात् । उभयतः संन्यासेन परिगृहीतत्वात्संन्यासपदेन ज्ञानमुच्यते । संन्यास एवं च योगो ज्ञानं चेत्युभयं समानफलमुक्तम् ॥ ३६ ॥

योगज्ञानयोरन्यतरेण मार्गेण मां ज्ञात्वा मुक्तो भवतीत्याह—

जन्तूनां हितकर्तारं कर्मणां फलदायिनम् ।

मां ज्ञात्वा मुक्तिमाप्नोति त्रैलोक्यस्येश्वरं विभुम् ॥ ३७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्गणेशगीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृतार्थ-

शास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरे-

ण्यसंवादे द्वैधसंन्यासयोगो नाम

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

सद्यः पापहराणां तीर्थादीनां स्रष्टा चेन्न सर्वेषां जन्तूनां हितकर्तारं कर्मणां यज्ञादीनां फलदायिनं फलदानशीलं न केवलाज्जडात्कर्मणः फलोत्पत्तिः संभवति । अपि तु तेन तर्पितान्मत्त एव भवति मां गणेशं

१ घ. 'ब्रह्म' । २ ख. 'व्यागात्मस्व' । ३ घ. 'योगज्ञान' । ४ ख. 'श्रेष्ठत्वा' । ५ क. 'न्यासा' । ६ ख. 'त्वामोक्षमा' । ७ ख. 'न मय्यर्पितत्वान्म' ।

ज्ञात्वा मुक्तिं मोक्षमाप्नोति । कीदृशं त्रैलोक्यस्येश्वरं नियन्तारम् ।  
अन्तर्यामित्वेन विभुं च राजवन्नियन्तृत्वेन च । अन्यतरेण मार्गेण तत्त्व-  
ज्ञानं वसिष्ठ आह—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।  
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥  
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तवनिश्चयः ।  
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद् परमः शिवः ॥

श्रुतिश्च(?) “ तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम् । एतज्ज्ञानं  
च ध्यानं च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ( ५ ) इत्यमृतबिन्दूपनिषदि ज्ञानेन  
ध्यानेन वा चित्तक्षयस्यैव परमपुरुषार्थत्वोक्तैर्युक्तमुक्तं वसिष्ठेन द्वौ क्रमौ  
चित्तनाशस्येति ॥ ३७ ॥

श्रीचातुर्धरभणितौ गणेशगीता-  
टीकायां गणपतिभावदीपिकायाम् ।  
गम्भीरप्रतप्तसदर्थदर्शिकाया-

मध्यायः स्फुटहृदयोऽभवच्चतुर्थः ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्पद्माक्षप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्द-  
सूरिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां गणपति-

भावदीपिकायां द्वैधसंन्यासयोगो नाम  
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

योगज्ञानयोः समानफलत्वं यद्यप्युक्तं तथाऽपि योगनिर्धूतदोषे चेतसि  
ज्ञानमुत्पद्यत इति योगस्यैव प्राथम्यात्तदारोहमार्गं प्रष्टुमिच्छन्तं वरेण्यमु-  
पलक्ष्य स्वयमेव पूर्वोक्तयोगसहितं योगं विवक्षुर्गजानन उवाच—

श्रौतस्मार्तानि कर्माणि फलं नेच्छन्समाचरेत् ।

शस्तः स योगी राजेन्द्र अक्रियायोगमाश्रितात् ॥ १ ॥

ध्यानयोगे दृढाधिकारसिद्ध्यर्थः कर्मयोगो ध्यानयोगादपि स्तूयते ।  
योगमाश्रितात् । योगाभ्यासे प्रवृत्तादक्रियात्यक्तकर्मणः संन्यासिनोऽपि स

योगी कर्मयोगी हे राजेन्द्र शस्तः प्रशस्तः । स को यः श्रौतानि त्रैताग्निसा-  
ध्यान्यग्निहोत्रादीनि स्मार्तानि गृह्याग्निसाध्यान्यौपासनादीनि कर्माणि  
ततोऽन्यानि जपतपआदीनि फलं नेच्छंस्तेषां फलं स्वर्गप्रतिष्ठादिकमामु-  
ष्मिकमैहिकं च नेच्छन्ननिच्छन् । नैकधेतिवन्नशब्दसमासोऽयम् ।  
यः समाचरेत्सम्यगाचरेत् । अनेनाहं पूतो भविष्यामीति श्रद्धयाऽऽ-  
चरेत् स शस्त इति संबन्धः ॥ १ ॥

निष्कामकर्मावधिमाह-

योगप्राप्त्यै महाबाहो हेतुः कर्मैव मे मतम् ।

सिद्धयोगस्य संसिद्ध्यै हेतू शमदमौ मतौ ॥ २ ॥

योगश्चित्तैकाग्र्यं तस्य प्राप्त्यै लाभाय हे महाबाहो हेतुः कारणं कर्म  
श्रौतानि मे मम सर्वज्ञस्य मतमभिमतम् । गुरुक्तयुक्त्या हृदि प्राणि-  
धीयमानं चित्तं यावदैकाग्र्यं लभते तावत्कर्माणि कर्तव्यानीत्यर्थः ।  
सिद्धयोगस्य सिद्धो निष्पन्नो योगश्चित्तैकाग्र्यं यस्य स लब्धकर्मफलो  
योगी तस्य संसिद्ध्यै मुख्यसमाधिलाभाय हेतू कारणत्वेन शमदमौ मतौ  
म इत्यनुकृष्यते । अयं भावः-यस्त्वेकाग्रे चेतसि समुद्भूतमर्थं प्रद्योतयति  
क्षिणोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि निश्छिद्यति निरोधमभिमुखी करोति  
स संप्रज्ञातोऽत्र योगोऽभिहितो योगभाष्यकर्त्रा भगवता बादरायणेन ।  
संप्रज्ञातयोगफलभूतासु सिद्धिष्वासक्तो योगी पतत्येवातस्तत्र शमो  
मनोनिग्रहोऽपेक्षितः । निगृहीतस्य मनसस्तत्त्वप्रतिपत्तियोग्यता दमः ।  
तावुभावसंप्रज्ञातसमाधिलाभायावश्यमाश्रयितव्याविति । अत्र शमदम-  
शब्दाभ्यां विधिवत्कर्मत्यागरूपा पारिव्राज्याख्योपरतिरपि गृह्यते ॥ २ ॥

अत्र शमदमयोरभावे दोषमाह-

इन्द्रियार्थाश्च संकल्प्य कुर्वन्स्वस्य रिपुर्भवेत् ।

एताननिच्छन्त्यः कुर्वन्सिद्धिं योगी स सिध्यति ॥ ३ ॥

हार्दाकाशं प्रविष्टं योगिनं प्रकृत्य, “ स यदि पितृलोककामो  
भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो  
महीयते ( छा०८।२।१ ) ” इत्यादिश्रुतेः संकल्पमात्राद्धि तैर्विषयैर्योगी  
पुष्कलभोगं करोतीति गम्यते । तदेतदाह-संकल्पपूर्वकं विषयान्निर्माणे-  
न्द्रियार्थानिन्द्रियसाध्यानभोगरूपानर्थान्कुर्वन्निष्पादयन्न्योगसिद्धिजमेव

सुखं पुरुषार्थत्वेन जानन् । चकारात्तत्परिहारेण प्राप्यं पदमजानन्कुयोगी  
स्वयमेव स्वस्य रिपुर्भवति । आत्मानं तमोजाले पातयेदित्यर्थः । एतान्सं-  
कल्पजानिन्द्रियार्थानिच्छन्यः सिद्धिं समाधिसिद्धिं कुर्वन्निष्पादयन् ।  
हेतौ शत्रुप्रत्ययः । निष्पादनेन सिध्यति मुच्यते संप्रज्ञातजाः सिद्धीस्तुच्छी-  
कृत्यासंप्रज्ञातं साधयेदिति । तत्रापि शमदमावपेक्षितावेवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति त्रिभिः—

सुहृत्वे च रिपुत्वे च उद्दारे चैव बन्धने ।

आत्मनैवाऽऽत्मनो ह्यात्माऽनात्मा भवति कश्चन ॥ ४ ॥

आत्मनो जीवस्याऽऽत्मन आत्मना स्वेनैव रूपेण सुहृत्त्वे च रिपुत्वे च  
भवति । अयमर्थः—बालः स्वमनसा कल्पितेन यक्षेण मनोमात्रेण भयं  
विन्दति । एवं सर्वोऽपि जन्तुः स्वमनसा कल्पितेन शत्रुणा मित्रेण च  
सुखं दुःखं च विन्दति । एवं स्वस्योद्दारे कर्तव्ये मन एव गुर्वादिरूपेण  
भवति । एवं बन्धने मन एव कान्तादिरूपेण भवति । तच्च मनो जीवस्या-  
नात्मा, आत्मनो विरोधी, अनात्माऽऽत्मानं सुखदुःखहेतून्विषयाञ्छत्रु-  
मित्रादींश्चोत्पाद्य संसारयति । अतो मनोनाशः कर्तव्य इति भावः ॥४॥

मनोनाशोपायमाह—

मानेऽपमाने दुःखे च सुखे सुहृदि साधुषु ।

मित्रेऽमित्रेऽप्युदासीने द्वेष्ये लोष्टे च काञ्चने ॥ ५ ॥

मानः पूजाप्राप्तिः । अपमानः पराभवप्राप्तिः । सुखदुःखे प्रसिद्धे ।  
सुहृदि, उपकारमनपेक्ष्योपकर्तरि साधुषु सर्वभूतानुकम्पावत्सु । मित्र  
उपकारमपेक्ष्य हितकर्तरि । अमित्रे मित्रद्वेषिणि । उदासीनः प्रसिद्धः ।  
द्वेष्ये द्वेषविषयेऽपकारिणि । लोष्टे पांसुपिण्डे । काञ्चने स्वर्णे । एतेषु  
द्वादशसु समो वैषम्यरहितो यदा भवेत्तदा युक्ततमो भवतीत्युत्तरेणा-  
न्वयः ॥ ५ ॥

समो जितात्मा विज्ञानी ज्ञानीन्द्रियजयावहः ।

अभ्यसेत्सततं योगं सदा युक्ततमो हि सः ॥ ६ ॥

जितात्मा, आत्मा स्वभावः सेन्द्रियस्य मनसो बहिर्मुखत्वं तजितं  
येन प्रत्यक्प्रावण्यबलान्निरस्तं स जितात्मा । प्रत्यक्प्रावण्यफलं विज्ञा-

नम्, आत्मानुभवस्तद्वान्विज्ञानी । तदपि कुतो ज्ञानी ग्रन्थाभ्यासी,  
अधीतवेदान्त इत्यर्थः । इन्द्रियजयावहः श्रवणेऽपि जितेन्द्रिय एवाधि-  
क्रियत इत्यर्थः । एवं समः संस्तत्त्वज्ञानाय सदा योगं योऽभ्यसेत्स  
पुरुषः । हि प्रसिद्धं युक्ततमो महायोगी । सतां मत इति शेषः ॥ ६ ॥

मनोनाशप्रतिकूलान्यवस्थाकालदेशादीन्याह-

तप्तः श्रान्तो व्याकुलो वा क्षुधितो व्यग्रचित्तकः ।

कालेऽतिशीतेऽप्युष्णे वाऽनिलाग्न्यम्बुसमाकूले ॥ ७ ॥

तप्त उष्णादिना श्रान्तोऽध्वगमनादिना व्याकुलः शोकमोहा-  
दिना क्षुधितः प्रसिद्धः पिपासित इत्यपि ज्ञेयं व्यग्रचित्तकस्तीव्रो-  
गादिवेदनया व्याकुलचित्तः । कालेऽतिशीतेऽप्युष्णे इत्यनेन मनःप्रति-  
कूलत्वमात्रं लक्ष्यते । न तु हेमन्ते ग्रीष्मे वा योगाभ्यासः प्रतिषिध्यते ।  
प्रतिकूलदेशमाह-अनिलाग्न्यम्बुसमाकूल इति । अतिशीतादयो हि  
चित्तविक्षेपकरत्वाद्योगप्रतिकूला इति प्रसिद्धम् । तथा च श्वेता-  
श्वतरा आमनन्ति-“समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्द-  
जलाश्रयादिभिः । मनोनुकूले न तु चक्षुषीडने गुहानिवाताश्रयणे  
प्रयोजयेत् ” (अ० २ । १०) इति । एतेषां मनोनुकूलं इत्येतन्मुख्यं विशे-  
षणम् । अक्षरार्थः स्पष्टः ॥ ७ ॥

सध्वनावतिजीर्णे गोस्थाने साग्नौ जलान्तिके ।

कूपकूले श्मशाने च नद्यां भित्तौ च मर्मरे ॥ ८ ॥

अतिजीर्णे पतनभयाच्चित्तं न समाधीयते, यद्वाऽतिजीर्णे गोःस्थाने  
दंशादिबाधा प्रायेण भवतीति तन्निषिध्यते । साग्नौ देशे कूपकूले कूपो-  
पान्ते । यद्वा कुत्सित उपकूले कूलपतनभयात् । भित्तौ जीर्णायां समीपे  
पतनभयात् । मर्मरे शुष्कपर्णध्वनौ । शेषं स्पष्टम् ॥ ८ ॥

चैत्ये सवल्लिके देशे पिशाचादिसमावृते ।

नाभ्यसेद्योगवियोगं योगध्यानपरायणः ॥ ९ ॥

चैत्ये, अग्निचितं कृत्वोज्झिते बौद्धदेवतास्थाने वा तस्य देशस्यापवि-  
त्रत्वात् । सवल्लिके वल्लीकसाहिते । पिशाचादिसमावृते, आदिपदा-  
द्यक्षराक्षसवेतालादिकं ग्राह्यम् । योगवियोगशास्त्रमर्यादावित् ।

एतेषु स्थानेषु योगं नाभ्यसेत् । दृष्टादृष्टद्वारकविघ्नसंभवात् । योगध्यान-  
परायण इति । शास्त्रोक्तमार्गेण ध्याननिष्ठावान् ॥ ९ ॥

दृष्टा विघ्नास्तावत्प्रसिद्धा एव, अदृष्टविघ्नान्पिशाचादिकृतान्कण्ठत  
एवाऽऽह—

स्मृतिलोपश्च मूकत्वं बाधिर्यं मन्दता ज्वरः ।

जडता जायते सद्यो दोषाज्ञानाद्धि योगिनः ॥ १० ॥

स्मृतिलोपो वाताद्याधिक्यादनुष्ठेययोगाङ्गविषयायाः स्मृतेर्लोपो  
भवति । अतिवातेन मूकत्वम् । अतिपवनाघातेन बाधिर्यं, मन्दता पिशा-  
चादिचेष्टादर्शनेन । ज्वरः, अत्यौष्ण्येन । जडता, आमवातादिना । दोषा-  
ज्ञानादुक्तानां दोषाणामज्ञानात् ॥ १० ॥

विपक्षे बाधकमाह—

एते दोषाः परित्याज्या योगाभ्यसनशालिना ।

अनादरे हि चैतेषां स्मृतिलोपादयो ध्रुवम् ॥ ११ ॥

एत इति । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ११ ॥

योगिन आहारादिनियममाह—

नातिभुञ्जन्सदा योगी नाभुञ्जन्नातिनिद्रितः ।

नातिजाग्रत्सिद्धिमेति भूप योगं सदाऽभ्यसन् ॥ १२ ॥

भुञ्जन्भुञ्जानः । अभुञ्जन्भुञ्जानः । अभ्यसन्, हे भूप बहु भुञ्जानः ।  
अत्यन्तमभुञ्जानो वाऽतिनिद्रालुरतिजाग्रद्वा योगी योगाभ्यासं कुर्वन्सिद्धिं  
समाधिसिद्धिं न प्राप्नोति तेनाऽऽहारनिद्रादिकं योगिना परिमितमेव  
कर्तव्यमिति विधीयते ॥ १२ ॥

एवं देशशुद्धिः कालशुद्धिः, आहारनिद्रानियमश्चाऽऽसनसिद्ध्यर्थ-  
मुक्तः । तच्चाऽऽसनं प्राणायामश्चैतद्वयं पूर्वमेवोक्तम् । श्वेताश्वतरैश्चाऽऽ-  
सनजयपूर्वको योगो विधीयते । “ त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रि-  
याणि मनसा संनिवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि  
भयावहानि ( २।८ ) ” इत्यादिश्रुतेरर्थं संगृह्णाति—

संकल्पजांस्त्यजेत्कामान्नियताहारजागरः ।

नियम्य खगणं बुद्ध्या विरमेत शनैः शनैः ॥ १३ ॥

संकल्पजांस्त्यजेत्तत्र त्रिरुन्नतमित्यस्यार्थो भगवता संगृहीतः—समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिर इति । आसनमप्युक्तं शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनं मात्मन इत्यादिना । पतञ्जलिनाऽपि सूत्रितम्—‘स्थिरसुखमासनम्’ इति । यस्मिन्नासने दीर्घकालं सुखेन स्थातुं शक्यते तत्स्थिरसुखमित्यर्थः । तच्च सूत्रितं बादरायणेन ‘आसीनः संभवात्’ इति । तिष्ठतो देहधारणे वैयर्थ्यं भवति । शयानस्य निद्रोदेति । अत आसीन एव बहुदोषपरिहारसंभवाद्बुद्ध्यायितेति सूत्रार्थः । तत्र नियताहारजागरः । आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः (छा०७।२६।२) इति श्रुतेराहारस्य ग्रन्थिमोक्षहेतुत्वदर्शनात्सुरादिविषमाहारस्य चित्तोन्मादकत्वदर्शनाच्च यच्छास्त्रे निषिद्धं तदन्नपानादि सर्वथा परिहर्तव्यम् । यच्च विहितं तदेव नियमेन स्वीकर्तव्यम् । एवं नियतजागर इत्यनेन नियतप्रचारादिकमपि ज्ञेयम् । स एवं हितमितमेध्याशनपरो योगी स्वस्तिकाद्यासन उपविश्य संकल्पजान्कामान्मनोराज्य-आविर्भूतान्कामांस्त्यजेत् । मनोराज्यं त्यक्त्वा गुरुक्तयुक्त्या बुद्ध्यैव खगणमिन्द्रियग्रामं नियम्य स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य शनैः शनैर्भूमिकाजयक्रमे विरमेत् । ध्येयध्यानध्यातृविभागं परिहरेदित्यर्थः । यथोक्तं भगवता—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ इति ।

आत्मनि चिन्मात्रे संस्था समाप्तिः करकोदकन्यायेन तदात्मसंस्थं, संपूर्वस्य तिष्ठतेः समाप्तिवचनत्वात् । ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीतिप्रयोगदर्शनाच्च । अयं भावः—“क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेरग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः” इति सूत्रे यद्यपि ग्रहीत्रादिक्रम उक्तस्तथाऽपि प्रतिपत्तिक्रमेण प्रथमा ग्राह्यसमापत्तिः । द्वितीया ग्रहणसमापत्तिः । ततो ग्रहीतृसमापत्तिस्तृतीया । एकैका त्रिविधा, तैस्तथतातदञ्जनता \*त(ता)द्भाव्यभेदेन । तदेवं क्षीणवृत्तेश्चित्तस्य रजस्तमोमलशून्यस्य

\* ताद्भाव्यसमापत्तिविषय एतच्छ्लोकेऽनन्त उल्लेखो वर्तते ।

स्फटिकमणेरिवातिस्वस्थ (६७) स्यैताः समापत्तयः क्रमेण या नवविधाः प्राप्य शुद्धे चितितन्मात्रे चेतःस्फटिकः करकावत्तान्द्राव्यमेति । तत्रायं क्रमः—प्रथमग्राह्ये गणपतिविग्रहे स्थूलप्रतिमारूपे दृष्टिं धारयतो यदा त्रिविधं दृगैकाग्र्यं संपद्यते तदा मनस्थमित्युच्यते । तत्राऽऽद्यमर्जुनस्य भासकदशब्दादिग्रहसहितं दृगैकाग्र्यं ज्ञायते दृश्यते । एवमिषुकारस्य दृष्ट्वा शब्दादिग्रहरहितं समनस्कवतादौ स्मर्यते, एवं गणपतिप्रतिमायां स्थूले देहासङ्गेन चित्तं स्थिरं भवति तदा तत्स्थमित्युच्यते । अस्यामवस्थायां मूर्तेर्जडत्वं तिरोधीयते । अत एव भक्ताः स्वाराध्यैः सह स्वामिभृत्यभावेन बलिबाणादयो व्यवहरन्तीत्युपाख्यायते । अत्र हि चितितन्मात्रस्वरूप आत्मतत्प्रतिबिम्बगर्भमन्तःकरणं यमेवोपाधिं प्रविशति तमेवाऽऽत्मेति मत्वा तद्वारा सुखाद्यनुभवति । एतच्च जाग्रत्स्वप्नशरीरयोः स्पष्टम् । पिशाचस्य परशरीरावेशे ज्ञायते । तत्राऽऽद्ययोः स्पष्टं तान्द्राव्यं मनसः पिशाचस्य परशरीरे तु भेदग्रहसत्त्वेऽपि भोगमात्रोपलम्भात्तदञ्जितत्वमेव न तान्द्राव्यमस्ति । एवं गणपतिविग्रहे यदा भावनातिशयाच्चित्तं प्रविशति तदा योगी कीटभृङ्गन्यायेन गणपतेः सारूप्यं परानुग्रहादावैश्वर्यं च लभते । तद्वृष्टं शिवमूर्तिं भावयतो नन्दिकेश्वरस्य ततोऽपि निरतिशयभावनया गणपतितान्द्राव्यं यदाऽनुभवति तदा तस्यैव देहस्य ग्रहणभावमपरोक्षी करोति । गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या ग्रहणपदेन करणसमुदाय उच्यते । तत्र श्रुतौ प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका इति चक्षुरादिभ्यो दशभ्य आदित्यादयो देवा जायन्ते देवेभ्यश्च तत्प्रकाश्याः सर्वे लोका जायन्ते । ततश्च “अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् । आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्” (ऐ० २।४) इत्यग्न्यादित्यादीनां देवतानां स्वस्वविषयसहितानां वाक्चक्षुरादिभावः श्रूयते, तेन कृत्स्नोऽपि विराड्ग्रहणशब्दितमिन्द्रियगणं सूत्रापरनामधेयं प्राविशति । अत एव सांख्याः करणानां विभुत्वमभिप्रेत्य शरीरदेशे वृत्तिलाभमाहुः । अग्रेष्विव मन्यनदेशेऽस्यामवस्थायां चित्तं करणस्थमित्युच्यते, तद्यदा सर्वान्विषयान्युपदवभासयति तदा तर्दजितमित्युच्यते । यदा त्वहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते तदा ग्रहणतान्द्राव्यं योगी प्राप्त इत्युच्यते । इन्द्रियाणामपि नीडं हृदयं वाग्दृश्ये हृदयं



मयि । चक्षुर्हृदयं मनोहृदयादि मन्त्रलिङ्गात् । यदा तु करणानि हृदयं प्रविशन्ति तदा हार्दाकाशे स्थितानां त्रैकालिकानां कामानां दर्शनं भवति तदा मनो हृदयस्थमित्युच्यते । यदा तु तानपि कामांस्तुच्छीकृत्याऽऽत्मानमवेक्षते तदाऽऽत्मनि सूत्रशतानि पश्यति । तस्यामवस्थायामन्तःकरणं बहिर्मुखत्वादहमिति शब्देनोच्यते, अहमेव ब्रह्माण्डशतद्रष्टाऽस्मीत्यनुभवात् । इदमेव ग्रहीत्रञ्जितत्वं यदा तदेवमन्तर्मुखं सदस्मीत्येतावन्मात्रमनुभवति । सोऽयं ग्रहीतृभावानुभवः । अयमेव ब्रह्मास्मीति श्रुत्याऽभिलप्यते । इदमेव सांख्यानां गुणपुरुषान्तरं ज्ञानं सत्त्वपुरुषान्यताख्यात्यपरपर्यायम् । अस्याप्युपरमे मन आत्मसंस्थं भवति । तदेतदुक्तं न किञ्चिदपि चिन्तयेदिति । इहापि विरमेदिति च । तदिदं शनैः शनैर्विरमेतेति व्याख्यातम् ॥ १३ ॥

ननु सूत्रे ग्राह्यादिषु तत्स्थता तदञ्जनता समापत्ती द्वे एवोक्ते कथं ताद्भाव्यसमापत्तिरपि तृतीयोच्यते, तत्र ब्रूमः—योगिनो हि भेददर्शिनस्तेषामिदं सर्वं यद्यमात्मेति श्रुतिसिद्धं सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्वं नाभिमतमिति द्वे एव समापत्ती । अस्माकं तु तद्विदां तृतीयाऽपि समापत्तिरस्ति । अत एव यास्केन अ(स्कोऽ)थाऽऽगमो यां देवतां निराहं तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीति स्पष्टं तत्तदेव ताद्भाव्यमाह । श्रुतिरपि स यत्क्रतुर्भवति तदभिस्पष्टत इति । अत एव पुरुषग्राह्य-ग्रहणगृहीतृताद्भाव्यानि क्रमेणानुभूयाऽऽत्मनि चित्ते तन्मात्रत्वमप्यनुभवत्यसंप्रज्ञाने ॥ १३ ॥

विरमेत शनैः शनैरित्येतदेव व्याचष्टे—

ततस्ततः कृषेदेतद्यत्र यत्रानुगच्छति ।

धृत्याऽऽत्मवशगं कुर्याच्चित्तं चञ्चलमादृतः ॥ १४ ॥

इदं चञ्चलं चित्तं यत्र यत्र विषये रूपादावमित्रादौ वा रागद्वेषयोः प्राबल्यमनुगच्छति यत्र सक्तं भवतीति यावत् । ततस्ततो विषयादेतच्चित्तं कृषेदाहरेत् । आहृत्य च धृत्या सात्त्विक्या, आत्मवशगं स्वेच्छाधीनं कुर्यात् । यथा प्रत्यक्प्रावण्यं परित्यज्य बहिर्मुखं न भवेत्तथा कुर्यादित्यर्थः । सात्त्विकी धृतिश्च प्रोक्ता भगवता—

१ ख. अहमे । २ घ. 'रतिपि' । ३ क. यास्वत अ° । ख. यास्वत अर्थाग° । ४ क. 'रारहस्तस्यास्त' । ५ घ. 'तावद्भा' । ६ घ. तावद्भा । ७ क घ. निश्चिति ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ इति ।

मनसरूपादिसंबन्धो दुःखहेतुः । तन्निवृत्त्या दुःखनिवृत्तिरिति विस्मर्यते ।

यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान् ।

तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ।

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।

निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ इति ।

आहत इत्यनेन दीर्घकालनैरन्तर्ये अपि ग्राह्ये । तथा च योगसूत्रम्—“ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ” इति । स एव योगो दीर्घकालमासेवितो नैरन्तर्येणाऽऽसेवितः सत्कारेणाऽऽसेवितो दृढभूमिर्भवति । पूर्वा भूमिं जित्वा उत्तरां भूमिं जेतुं समर्थो भवतीति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

एवमनुष्ठितस्य योगस्य फलमाह—

एवं कुर्वन्सदा योगी परां निर्वृतिमृच्छति ।

विश्वस्मिन्निजमात्मानं विश्वं च स्वात्मनीक्षते ॥ १५ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेणाऽऽदृतो योगी सदा नित्यं कुर्वन्योगमनुतिष्ठन्परां निर्वृतिं परां निरतिशयां निर्वृतिं सुखसंपदम् । एषाऽस्य परमा संपत् । एषोऽस्य परमो लोकः । एषोऽस्य परमानन्द इति शास्त्रप्रसिद्धाम् । असंप्रज्ञातावस्थो योगी ऋच्छति प्राप्नोति । एवं मुख्यं योगफलमुक्त्वा विक्षेपसंप्रज्ञातावस्थयोस्तस्यावान्तरफलं दर्शयति—विश्वस्मिन्निजमात्मानमीक्षत इति । तथा च सामगान उदाहृतम्—अहमन्नम् । अहमन्नादो ३ । अहं श्लोककृत् । इति । सर्वं मया व्याप्तमित्यवेक्षत इति भावः । विश्वं च स्वात्मनीक्षत इति ग्रहणं तान्द्वाव्याभिप्रायेण वा ग्रहीतृसमो वेत्याभिप्रायेण वा शनैः शनैः श्लोकव्याख्यानप्रकारेण बोध्यम् ॥ १५ ॥

एवं विधस्य योगस्याविनाशिफलत्वं दर्शयति—

योगेन यो मामुपैति तमुपैम्यहमादरात् ।

मोचयामि न मुञ्चामि तमहं मां स न त्यजेत् ॥ १६ ॥

द्वैतवादिनो हि सांख्या योगाश्चात्यन्तनिपुणा अपि त्वंपदार्थमात्रं

जानन्तः क्रममुक्तिमात्रं लभन्ते । न तु ब्रह्मात्माभेदज्ञानाभिव्यङ्ग्यं सद्यः  
कैवल्यमिति तदेतदाह—योगेन यो मामुपैति तमुपैम्यहमादरात् । योगेन  
श्रौतेन यो योगी—

‘स्थूलं विलाप्य करणे करणं निदाने  
तत्कारणं करणकारणवर्जिते च ।  
इत्थं प्रविश्य यतयो यमिहाऽऽप्नुवन्ति ’

इति पुराणोक्तदिशा मां सत्यज्ञानानन्तानन्दरूपं प्राप्नोति । किं नदी-  
समुद्रवदुच्यते । तथा हि श्रूयते “ यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं  
गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्पुण्यपापाद्विमुक्तः परात्परं पुरुष-  
मुपैति दिव्यम् ” ( मु० ३ । २ । ८ ) इति । नेत्याह—तमुपैम्यहमादरा-  
दिति । यथा त्वमर्थस्तदर्थं प्रविशति—एवं तदर्थोऽपि त्वमर्थं प्रविशति ।  
अत एव विद्वदनुभवोऽहमेवोपरिष्ठादहमेवाधस्तादित्यादिरात्मनः सार्व-  
त्म्यग्राही । यथा सकृत्करका वारित्वेन दृष्टा पुनस्तामेव करकात्वेन  
गृह्णन्वार्येवेदमिति मन्यते तद्वत् । श्रुतिस्तु त्वंपदार्थशुद्धिमात्रपरा ।  
न भेदपरा तत्त्वमसीतिवत् । किमनेनात्यन्ताभेदज्ञानेनेत्यत आह—तं  
योगिनं त्वमर्थमहं तदर्थः प्रत्यगभेदेन गृहीतः सन्मोचयामि  
संसारबन्धनान्मुक्तं करोमि । किमसंप्रज्ञातवत्समाध्यवस्थायामेव मोच-  
यसि नेत्याह—न मुञ्चामीति । तस्य च कदाचिदपि विश्लेषो न  
भवति । सकृद्गन्धस्याज्ञानस्य भेदजनकस्य पुनरनुदयात् । ननु त्वमर्थ  
एव पूर्वभोगवासनया तदर्थं जहात्विति चेन्नेत्याह—मां स न त्यजेदिति ।  
लब्धबोधो योगी न पुनर्भ्रान्तिमेति । तत्त्वपक्षपातोऽपि धियां स्वभावः ।  
यथाऽऽहुर्बाह्या अपि—

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ।

न बो(बा)धो बलवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥ इति ।

अनादिरपि भ्रान्तिः सकृज्जातेन ज्ञानेन समूलोच्छिद्यते । तथा च  
श्रुतिः “ सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ” ( छा० ८।४।२ ) इति ॥ १६ ॥  
एवंभूतस्य योगिनो लक्षणानि स्वपरसाक्षिकाण्याह—

सुखे दुःखे तरे द्वेषे क्षुधि तोषे समस्तृषि ।

आत्मसाम्येन भूतानि सर्वगं मां च वेत्ति यः ॥ १७ ॥

सुखेऽनुकूलवेदनीये, दुःखे प्रतिकूलवेदनीये, इतरेऽनुभयवेदनीये, दुःखं

चेत्तरच्चेति दुःखेतरं समाहारद्वंद्वस्तस्मिन् । अस्मिन्नित्ये समः । इतर-  
वत्सुखे दुःखे च प्रेप्स्यापरिजिहीर्षारहितः । द्वेपे स्वस्मिन्परेण कृते  
सति, क्षुत्पासिद्धा, तोषः संतोषः परकर्तृकः । तृट् प्रसिद्धा । एतेषु चित्त-  
विकारहेतुषु समो निर्विकारः । अत एव भूतानि जरायुजाण्डजस्वेदजो-  
द्भिज्जानि, आत्मसाम्येन यो वेत्ति यथा दुःखं मे मा भूदिति । आत्मनो  
दुःखाभावं कामयत एवं सर्वेषु भूतेष्वप्यहिंस्यत्वं यो वेत्ति । तत्र हेतुः—  
मां च सर्वात्मानं सर्वेषु भूतेष्वनुप्रविष्टं प्रत्यगनन्यचेता हि स्वयं यो वेत्ति  
स जीवन्मुक्त इत्युत्तरेणान्वयः ॥ १७ ॥

जीवन्मुक्तः स योगीन्द्रः केवलं मयि संस्थितः ।

ब्रह्मादीनां च देवानां स वन्द्यः स्याज्जगत्रये ॥ १८ ॥

स सर्वसाम्यदर्शित्वात्सर्वेषां योगिनामिन्द्रः श्रेष्ठः । जीवन्मुक्तः सदे-  
होऽप्यदेहः । तथा च श्रुतिः—तद्यथाऽहिनिर्बल्यनी बल्मीके मृता  
प्रत्यस्ता शयीतैवभवेद\* शरीर\* शेते ” ( बृ०४।४।७ ) सचक्षुरचक्षु-  
रिव सवा[गवा]गिव समना अमना इवेति । श्रीमद्भागवतेऽप्युक्तम्—

देहं विनश्वरमवस्थितमुत्थितं वा

सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।

दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं

वासो यथा परिहृतं मदिरामदान्धः ॥ इति ।

अत्र हेतुमाह केवलं वृत्त्यन्तररहितं यथा स्यात्तथा मयि, अखण्डैक-  
रसे संस्थितः समाप्तिं गतः । अत एव स जगत्रये ब्रह्मादीनां देवानां  
चकारादितरेषां च योगिनां शुकसनकवसिष्ठवामदेवादीनां च वन्द्यः,  
अभिवादनीयः स्तुत्यश्च भवेत् । अत्र योगवासिष्ठे सप्त भूमय उक्ताः—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।

विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥

सत्त्वापतिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।

पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥

अत्र शुभेच्छा विवेकवैराग्यपूर्विका, तीव्रमुमुक्षा विचारणा, वेदान्त-  
श्रवणमननात्मिका तनुमानसा, निधिध्यासनं सत्त्वापत्तिरहंब्रह्मास्मीति  
विद्यावृत्तिलाभश्चतुर्थी योगफलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्मविदित्यु-

च्यते । असंसक्तिप्रभृतयो निर्विकल्पसमाधेरेवावान्तरभेदाः । यतो योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठति सा योगभूमिरसंसक्तिसंज्ञा पञ्चमी । अस्यां योगी ब्रह्म-  
विद्वर इत्युच्यते । यस्यां तु परप्रबोधित एव व्युत्तिष्ठति सा परा(दा)र्थाभा-  
वनी षष्ठी । अतो ब्रह्मविद्वर्या नित्युच्यते । यतः स्वतः परतो वा न व्युत्तिष्ठति  
सा तुर्यगा नाम सप्तमी योगभूमिः । अस्यां योगी “आत्मक्रीड आत्मरतिः  
क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ” ( मु० ३।१।४ ) इति श्रुतेर्ब्रह्मविद्वरिष्ठ  
इत्युच्यते । अयमेवेह योगीन्द्रपदेन गृह्यते ॥ १८ ॥

पूरककुम्भकमित्यादिना प्राणनिग्रहपूर्वको योग उक्तः । संकल्पजा-  
स्त्यजेत्कामानित्यादिना मनोनिग्रहपूर्वको योग उक्तः । तावुभावपि  
दुष्कराविति मत्वा वरेण्य उवाच-

द्विविधोऽपि हि योगोऽयमसंभाव्यो हि मे मतः ।

यतोऽन्तःकरणं दुष्टं चञ्चलं दुर्ग्रहं विभो ॥ १९ ॥

हे विभो व्यापकत्वेन सर्वेषामन्तःकरणानां दौष्यं जानात्यतो हेतोः ।  
अन्तःकरणं सर्वस्य प्राणिजातस्य दुष्टं रागद्वेषादिदोषयुक्तम् । अत एव  
चञ्चलं क्षणमप्यस्थिरम् । अत एव दुर्ग्रहं दुःखेनापि ग्रहीतुं नियन्तुमश-  
क्यम् । अतो द्विविधोऽपि द्विप्रकारोऽपि प्राणजयपूर्वको वा केवलो वा  
हि प्रसिद्धो योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधरूपः । अयं त्वया प्रोक्तः । असं-  
भाव्यः संभावयितुमशक्यो मम चञ्चलचित्तस्य मतोऽभिमतस्तस्मादि-  
तोऽपि कंचित्सुकरमुपायं ब्रूहीति भावः ॥ १९ ॥

गुरुप्रसादादींश्चित्तजयोपायान्विवक्षुर्मनसो दौष्यमेव विस्तरेणानुवद-  
ञ्श्रीगजानन उवाच-

योगी ग्रहं दुर्ग्रहस्य मनसः संप्रकल्पयेत् ।

घटीयन्त्रसमादस्मान्मुक्तः संसृतिचक्रकात् ॥ २० ॥

मुक्तः, मुक्तो भवितुमिच्छुः । अग्निर्वा अकामयतेतिवदग्निवकामे यज-  
मानेऽनग्नावग्निपदवद्भाविनीं वृत्तिमाश्रित्यायं मुक्तपदप्रयोगः । अस्मात्सं-  
सृतिचक्रकात् । संसृतिः संसरणं जन्ममरणप्रवाहः । तदेव चक्रकं रथच-  
क्रकवदूर्ध्वाधरीभावविपर्यासेनानिशं बम्भ्रममाणत्वात्क्लेशकरत्वेन कुत्सि-  
तत्वाच्च चक्रकमिव चक्रकम् । अत एव घटीयन्त्रसमं यथा घटीयन्त्रस्था

घटिका ऊर्ध्वमारोहन्ति, अधश्चावरोहन्ति, एवमिह प्राणिनो देवादिस्था-  
वरान्ता ऊर्ध्वाधरीभावं सांतत्येन गच्छन्ति । अस्मादात्मानं मुमुक्षुर्योगी  
दुर्ग्रहस्यापि मनसो ग्रहं निग्रहं संकल्पयेत्सम्यक्कल्पयेद्देव न तु क्लेशभया-  
दुदासीतेत्यर्थः ॥ २० ॥

संकल्पेनस्यातियत्नसाध्यत्वं वक्तुं तस्य दौष्ट्यं प्रपञ्चयति—

विषयैः क्रकचैरेतत्संसृष्टं चक्रकं दृढम् ।

जनश्छेतुं न शक्नोति कर्मकीलैः सुसंवृतम् ॥ २१ ॥

यथा लोहचक्रक्रकचवद्वन्तुराभ्यां बहिरन्तश्च दारुपाटनयन्त्रसदृशाभ्यां  
नाभिनेमिभ्यां परिवृतं दृढैः कीलैश्च कीलितत्वादानुच्छेदनीयाभितो-  
भागम् । एवमिदं संसृतिचक्रं जाग्रत्काले बाह्यैर्विषयशङ्कुभिर्जनून्वि-  
ध्यति । अन्तश्च कामक्रोधादिभिर्विध्यति न च त उच्छेतुं शक्याः ।  
अतः कर्मकीलैः सुसंवृतं कर्माण्येव च कीला बाह्यभ्यन्तरक्रकचानां  
दाढ्यहेतवस्तैः सुसंवृतं सुतरां व्याप्तम् ॥ २१ ॥

एवमस्य संसारस्य चक्रदृष्टान्तेन दुर्मुच्छेद्यत्वमुक्त्वा तदुच्छेदोपाया-  
नाह—

अतिदुःखं च वैराग्यं भोगाद्वैतृण्यमेव च ।

गुरुप्रसादः सत्सङ्ग उपायास्तज्जये अमी ॥ २२ ॥

चकारो हेत्वर्थः । यस्मादुक्तरूपसंसारचक्रमतिदुःखम्, अत्यन्तं दुःख-  
करं, तस्माज्जये तज्जयनिमित्तम् । अमी मदुक्ता उपायाः प्रसिद्धाः ।  
अनुष्ठेया इति शेषः । तानेवाऽऽह—वैराग्यमिति । तस्यैव लक्षणं भोगाद्वै-  
तृण्यमिति । ऐहिकमामुष्मिकं वा भोगसाधनं लब्ध्वा तत्र वैतृण्यं  
तृण्यया अभावः । एतदेव वैराग्यलक्षणं पतञ्जलिना सूत्रितं “ दृष्टानुश्र-  
विकविषयवितृण्यस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ” इति । दृष्टा ऐहिकाः  
स्रक्चन्दनवनितादयः । आनुश्रविका वेदबोधिता दिव्याः रूपादयः ।  
तेषु प्राप्तेष्वपि वितृण्यस्य पुरुषस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यं सिध्यतीति  
सूत्रार्थः । गुरुप्रसादो योगकलाप्राप्तिः सत्सङ्गः प्रत्यगात्ममीमांसा परैः सह  
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनमेतदेकपरत्वज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधा  
इत्युक्तविधज्ञानाभ्यासहेतुः सतां सङ्गो मुख्यो जयोपाय इत्यर्थः ॥ २२ ॥

वैराग्यसत्सङ्गयोर्जयोपायत्वमुक्त्वाऽभ्यासस्यापि तदाह—

अभ्यासाद्वा वशी कुर्यान्मनो योगस्य सिद्धये ।

वरेण्य दुर्लभो योगो विनाऽस्य मनसो जयात् ॥ २३ ॥

वाशब्दश्चार्थः । अभ्यासाच्च मनो वशी कुर्यात् । अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इति तयोः समुच्चितयोरेव चित्तनिरोधहेतुत्वस्य सूत्रणात् । वशीकारफलं योगस्य सिद्धय इत्युक्तम् । विपक्षे दोषमाह—वरेण्येति । अस्य स्वभाववचनफलस्य मनसो जयाद्विना योगो दुर्लभ इति योजना । शेषं स्पष्टम् ॥ २३ ॥

मनोनिग्रहस्यानेकजन्मसाध्यत्वात्त्यक्तभोगस्यासिद्धमनोजयस्य भोगाद्योगाच्च भ्रष्टस्यान्तराले नाशो मा भूदिति संदिहानो वरेण्य उवाच—

योगभ्रष्टस्य को लोकः का गतिः किं फलं भवेत् ।

विभो सर्वज्ञ मे छिन्धि संशयं बुद्धिचक्रभृत् ॥ २४ ॥

यथा प्रारब्धयज्ञः सामिकृतात्तस्मान्न यज्ञफलं विन्दति प्रत्युत दोषाद्धो गच्छति, एवं योगभ्रष्टस्योर्ध्वलोकप्राप्त्यभावादधोगतिं प्राप्नोति । तत्तश्चोर्ध्वमारोहोऽस्ति न वेत्येकः प्रश्नः । उतालपस्य सुकृतस्याल्पमेव फलं भवति तच्च फलदानेन तज्जं सुकृतं भोगेन क्षीयत इति द्वितीयः प्रश्नः । क्षीणेऽपि तस्मिन्पूर्वसंस्कारात्पुनर्योगाभ्यासे प्रवर्तते न वेति तृतीयः प्रश्नः । हे विभो व्यापक बुद्धिचक्रभृत्, बुद्धीनां सर्वप्राणिगतानां धियां चक्रं समुदायस्तं विभर्ति धारयति पुष्पाति वा, एवंभूतः सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च त्वं मे ममोक्तरीत्या त्रिविधं संशयं छिन्धि नाशयेत्यर्थः ॥ २४ ॥

एवं प्रार्थितो गजानन उवाच—

दिव्यदेहधरो योगाद्भष्टः स्वर्भोगमुत्तमम् ।

भुक्त्वा योगिकुले जन्म लभेच्छुद्धिमतां कुले ॥ २५ ॥

असमाप्तकतुरिव योगभ्रष्टोऽधोगतिं न प्राप्नोति । अपि तु दिव्यदेहधरो भूत्वोत्तमं स्वर्भोगं भुङ्क्ते इति प्रथमस्य प्रश्नस्योत्तरं, द्वितीयस्योत्तरं तु योगिकुले वा शुद्धिमतां कुले वा जन्म लभेतेति ॥ २५ ॥

तृतीयस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—

पुनर्योगी भवत्येष संस्कारात्पूर्वकर्मजात् ।

न हि पुण्यकृतां कश्चिन्नरकं प्रतिपद्यते ॥ २६ ॥

एष योगध्रष्टः । योगिकुले महाकुले वा जन्म लब्ध्वा पुनर्योगी भवेत् । तत्र हेतुः—पूर्वकर्मजातसंस्कारादिति । अभ्यस्तयोगस्य पुनर्जन्मान्तरेऽपि योगाभ्यास एव पूर्वसंस्कारात्प्रवृत्तिरवश्यं भवति । तथा च स्मरति—

जन्मजन्मान्तराभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः ।

तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यसते पुनः ॥ इति ।

न ह्रीत्यादि स्पष्टार्थम् ॥ २६ ॥

अथ योगिनं स्तुवंस्त्वंपदार्थशुद्धिमुपसंहरति—

ज्ञाननिष्ठात्तपोनिष्ठात्कर्मनिष्ठान्नराधिप ॥

श्रेष्ठो योगी श्रेष्ठतमो भक्तिमान्मयि तेषु यः ॥ २७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्गणेशगीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृतार्थशास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरेण्यसंवादे योगकथनं नाम

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

हे नराधिप वरेण्य ज्ञाननिष्ठात्केवलं वेदान्तश्रवणादिपराङ्मुरक्षाजादेर्योगी श्रेष्ठः । तथा तपोनिष्ठाद्विश्वामित्रादेर्योगी श्रेष्ठः । तथा कर्मनिष्ठाद्वसिष्ठादेरपि योगी सनकादिः श्रेष्ठः । तेष्वपि योगिषु यो मयि भक्तिमान्प्रह्लादादिर्मादृशोऽसौ श्रेष्ठतमो मत इति । तस्मात्त्वमपि तादृशो योगी भवेति भावः । एवं शोधितस्त्वंपदार्थः । अतः परं तत्पदार्थशुद्धिर्भवति ॥ १७ ॥

श्रीचातुर्धरभणितौ गणेशगीता-

टीकायां गणपतिभावदीपिकायाम् ।

गम्भीरप्रतप्तसदर्थदर्शिकाया-

मध्यायः स्फुटदृढयोऽत्र पञ्चमोऽभूत् ॥

इति श्रीमत्पद्माक्षप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्दसूरिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां गणपतिभावदीपिकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



अथ षष्ठोऽध्यायः ।

पूर्वाध्यायान्ते सर्वश्रेष्ठोऽपि योगी मयि भक्तिमांश्चेच्छ्रेष्ठतमो भवतीति श्रुत्वा भक्तियोगं प्रष्टुमिच्छन्तं वरेण्यमालक्ष्य स्वयमेव तं व्युत्पादयिष्यन्ग-  
जानन उवाच—

ईदृशं विद्धि मे तत्त्वं मद्गतेनान्तरात्मना ।

यज्ज्ञात्वा मामसंदिग्धं वेत्सि मोक्ष्यसि सर्वगम् ॥ १ ॥

ईदृशं पूर्वाध्याय उक्तविधं तत्र हि परां निर्वृत्तिमित्यनेन त्वमर्थस्य परमानन्दरूपत्वमुक्तम् । विश्वस्मिन्निजमात्मानं विश्वं च स्वात्मनीक्षत इति तस्यैव सर्वगतत्वाद्युक्तं, सर्वगं मां च वेत्ति य इत्यनेन तत्पदार्थस्य स्वस्यापि सर्वगत्वमुक्तम् । न च द्वौ सर्वगौ संभवत इत्याशङ्क्य योगेन यो मामिति श्लोकेन त्वमर्थो मां प्रविशति । अहं च त्वमर्थं प्रविशामीति तयोरभेद उक्तः । तदेतदीदृशमिति पदेनाऽऽत्मनस्तत्त्व-  
मनारोपितं रूपं जीवानां ब्रह्मानन्यत्वं ब्रह्मणश्च जीवतत्त्वानन्यत्वं च विद्धि कथं मद्गतेनान्तरात्मना करकावारिन्यायेन मयि प्रविलापितेन मनसा यदेवंप्रकारेण मामसंदिग्धं प्रत्यगभिन्नत्वे संशयादिहीनं मां ज्ञात्वा वेत्सि लभसे साक्षात् । ततश्च मोक्ष्यसि मुक्तो भविष्यसि । यतस्त्वं सर्वगो भवसि मुक्तस्य हि सार्वभ्यात्सर्वगत्वं प्रसिद्धम् । य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवतीति । इदं सर्वं यद्यमात्मेति च मुक्तस्य ब्रह्मविदः स (सा) सार्वभ्याश्रवणात् ॥ १ ॥

एवं ज्ञानफलप्रदर्शनेन जिज्ञासुमभिमुखीकृत्य ज्ञानसाधनं तत्पदार्थो-  
पासनं वक्तुं प्रतिजानीते—

तत्तेऽहं शृणु वक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया ।

अस्ति ज्ञेयं यतो नान्यन्मुक्तेश्च साधनं नृप ॥ २ ॥

हे नृप वरेण्य तत्ते तुभ्यं ज्ञानसाधनं ज्ञेयं च वस्तु, अहं सर्वज्ञ ईश्वरो वक्ष्यामि त्वं च तन्मयोच्यमानं शृणु, आकर्णय । यद्यपि त्वं मद्दर्शनमात्रात्कृतकृत्योऽसि तथाऽपि लोकानां हितकाम्यया वक्ष्यामीति संबन्धः । तद्वारकया शिष्यपरम्परयाऽन्येऽप्येतच्छ्रुत्वा कृतकृत्या भवन्वि-

त्याभिप्रायः । यतो यस्मादन्यदात्मज्ञानात्साधनाद्वाऽन्याज्ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं नास्ति किंत्वात्मतत्त्वमेव मुक्तेः संसाधनं ज्ञेयम् ॥ २ ॥

ज्ञेयमेवाऽऽह—

ज्ञेया मत्प्रकृतिः पूर्वं ततः स्याज्ज्ञानगोचरः ।

ततो विज्ञानसंपत्तिर्मयि ज्ञाते नृणां भवेत् ॥ ३ ॥

मम प्रकृतिर्मत्प्रकृतिः । मत्संबन्धिनी त्रिगुणात्मिका माया पूर्वं ज्ञेया मायाकार्यभूतं देहेन्द्रियादिकं पूर्वं ज्ञात्वा ततस्तदनन्तरं ज्ञानस्य गोचरो विषयो रूपादिः स्यादुत्पद्यते । अयमर्थः सुषुप्तिप्रकृत्य—“तदैवं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपाः सहाप्येति” (कौ० ३।३) इति सर्वलयाधिष्ठानमात्मानमुक्त्वा पुनः प्रबोधे “यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः सर्वा दिशो विप्रतिष्ठन्त एवमेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः ” (कौ० ३।३) इति आत्मनः सकाशादेव वह्निर्विस्फुलिङ्गन्यायेन प्राणशब्दितानां चक्षुरादीनां तेभ्यश्च तदधिष्ठानाणां सूर्यादीनां देवानां तेभ्यश्च तत्प्रकाश्यानां लोकानामुत्पत्तिरास्त्रायते । तदेवं दृष्टिसृष्टिमाभित्य चित्तं प्रत्यक्प्रवर्णं कृत्वा मयि विषये विज्ञानसंपत्त्यनुभवात्मना कैवल्यं भवति । केषां नृणामधिकारिणामपि निष्प्रपञ्चे सर्वेषां प्राणिनां प्रत्यगात्मनि ज्ञाते सति संपत्तिर्भवतीति संबन्धः ॥ ३ ॥

त्रिगुणात्मिकां मायां कार्यद्वारैव निर्विशति न हि रज्जुसर्पादिकारणमज्ञानमिदंतया निर्देष्टुं शक्यं प्रमाणगोचरत्वात् । अतस्तत्कार्यमेवैकादशविधमाह—

क्वणलौ खमहंकारः कं चित्तं धीः समीरणः ।

रवीन्दू यागकृच्चैकादशधा प्रकृतिर्मम ॥ ४ ॥

अत्राथातो विभूतयः पुरुषस्य तस्य वाचा सृष्टौ पृथिवी चाग्निश्चेत्येवमादिरैतरेयके दृष्ट एव सृष्टिक्रम आदर्तव्य इत्येतत्सूचनार्थं क्वणलाविति पृथिव्यग्न्योरुपादानं, तेन चक्षुषा सृष्टौ द्यौश्चाऽऽदित्यश्च प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्चेत्याद्यपि संग्राह्यम् । खमा-

काशः । अहंकारोऽभिमानः । कमुदकं चित्तं चिन्तनात्मिका  
धीवृत्तिः । धीर्निश्चयात्मिका बुद्धिवृत्तिः । समीरणो वायुः । रवीन्द्रू  
प्रसिद्धौ । यागकृद्यजमानः कृत्स्ने संघाते मनुष्योऽहं ब्राह्मणोऽहमित्यभि-  
मानवान् । सेयमेकादशधा, एकादशप्रकारा मम मत्संबन्धिनी प्रकृति-  
र्माया । प्रत्यक्षं स्वापे प्रेलीयते प्रबोधे चाऽऽविर्भवति । स्वप्नेन्द्रजाल-  
वदिति भावः ॥ ४ ॥

एवं जडां प्रकृतिमुक्त्वा चेतनां जीवरूपां प्रकृतिमाह—

अन्यां मत्प्रकृतिं वृद्धां मुनयः संगिरन्ति च ।

तया त्रिविष्टपं व्याप्तं जीवत्वं गतयाऽनया ॥ ५ ॥

अन्यां च मत्प्रकृतिं मुनयः संगिरन्ति कथयन्ति । वृद्धामनादिं, तया  
जीवत्वं गतयाऽनया च त्रिविष्टपं व्याप्तं दृश्यवच्चिदाभासरूपो द्रष्टाऽप्य-  
ध्यस्त इति भावः ॥ ५ ॥

एवं प्रकृतिद्वयमुक्त्वा तत्कार्यमाह—

आभ्यामुत्पद्यते सर्वं चराचरमयं जगत् ।

सङ्गाद्विश्वस्य संभूतिः परित्राणं लयोऽप्यहम् ॥ ६ ॥

आभ्यां जडाजडप्रकृतिभ्यां सङ्गादहमेव विश्वस्य संभूतिः । अहमेव  
परित्राणमहमेव लयश्च किंतद्विश्वं यज्जगत्, चराचरमयं जङ्गमस्थावरं-  
मोक्तृप्रधानं जगद्यदुत्पद्यते तद्विश्वम् । अयमर्थः । “स यथा सैन्धवघनोऽ-  
नन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः  
प्रज्ञानघनः ” ( बृ० ४।५।१३ ) इति श्रुतेः । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपबा-  
ह्याभ्यन्तरावस्थाभेदेऽपि प्रज्ञानघन एवाऽऽत्मा यथोत्पत्तिस्थितिलयका-  
लेऽपि सैन्धवघनो रसघन एवैवं सर्वक्रियाकारकफलभूतमहमेवैत-  
दित्यर्थः ॥ ६ ॥

अस्यां चिदेकरसस्य बुद्ध्यावधिकदौर्लभ्यमाह—

तत्त्वमत्र निबोद्धुं मे यतते कश्चिदेव हि ।

वर्णाश्रमवतां पुंसां पुराचीर्णेन कर्मणा ॥ ७ ॥

पुंसां मध्ये ये वर्णाश्रमधर्मवन्तस्तेषामपि मध्ये, अत्रास्मिँल्लोके मे  
मम परब्रह्मणस्तत्त्वमनारोपितं रूपमानन्दैकरसं बोद्धुमपरोक्षीकर्तुं

हि प्रसिद्धं कश्चिदेव यतते, अत्र हेतुः—जन्मजन्मान्तरकृतेन कर्मणा पुण्येन । तथा च “अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्” इति स्मृतेः । आत्मदर्शने प्रवृत्तिरत्यन्तदुर्लभेत्युक्तम् । तथा च श्रुतिः—“श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः” (क०२।७) इति ॥ ७ ॥

एतदेवोभयमाह—

साक्षात्करोति मां कश्चिद्यत्नवत्स्वपि तेषु च ।

मत्तोऽन्यन्नक्षते किञ्चिन्मयि सर्वं च वीक्षते ॥ ८ ॥

कश्चिदेव मां द्रष्टुं यतत इत्युक्तम् । यत्नवत्स्वपि कश्चिदेव मां पश्यतीत्याह—बहुष्वपि तेषु यत्नवत्सु कश्चिदेव मामुक्तविधयैकरसं साक्षात्करोति । मां साक्षात्कृतवतो लक्षणं शृणु । मत्तश्चिन्मात्रादन्यदचिज्जडं न किञ्चिदीक्षते । मयि चिन्मात्रे व्योम्नि नीलिमानमिव सर्वं वीक्षते, स्वप्न इव स्वातिरिक्तं नाऽऽसीदिति पश्यतीत्यर्थः । यथा स्वप्ने मदतिरिक्तं किञ्चिन्नाऽऽसीदेवं जाग्रत्यपि दृश्यमानमिदं मदतिरिक्तं नास्ति मरुमरीचिचयादिव वारिपूर इति भावः ॥ ८ ॥

एवं परमसिद्धान्तमुक्त्वा तदधिगमोपायं विभूतीनां चिन्तनं संक्षेपेणाऽऽह द्वाभ्याम्—

क्षितौ सुगन्धरूपेण तेजोरूपेण चाग्निषु ।

प्रभारूपेण पूष्णयज्ञे रसरूपेण चाप्सु च ॥ ९ ॥

अहमनुभवात्मा क्षितौ जडेऽस्मिन्भूधातौ भूत्वेन रूपेणासति सुगन्धिरूपेण सुगन्धानुभवरूपेण स्थितोऽस्मि । अयमर्थः—रज्जूरगस्वप्नमायादिषु असत्यपि जडे सर्पादिशरीरे तदनुभवमात्रशरीरोऽहमनुभूयमानसाक्ष्यविक्रियोऽस्मीति भावः । एवमग्नौ तेज इत्युष्णस्पर्शमात्रं लक्ष्यते, पूष्णि सूर्य आतपरूपेण, अब्जे चन्द्रे चन्द्रिकारूपेणावस्थितः । एवमप्सु रसरूपेण च स्थितोऽस्मि ॥ ९ ॥

धीतपो बलिनां चाह धीस्तपो बलमेव च ।

त्रिविधेषु विकारेषु मदुत्पन्नेष्वहं स्थितः ॥ १० ॥

धीरित्यादिविभज्य व्याख्येयम् । धीमतां धीर्विषयप्रकाशरूपाऽहमेव तपास्विनां तप ऊर्जितत्वं महानुभावत्वमहमेव बलिनां यौगैश्वर्यवतां

बलमैश्वर्यमगस्त्यादीनां समुद्रशोषणादिसामर्थ्यमहमेव । त्रिविधेषु विकारेषु जाग्रदभिमानी विश्वः । स्वप्नाभिमानी तैजसः । सुषुप्त्याभिमानी प्राज्ञः । एतेषु त्रिषु विकारेषु मदीयया मायया मदुत्पन्नेषु परस्परव्यावृत्तेषु, अ(कु)सुमसूत्रन्यायेनानुवर्तमानोऽहमेक एवेत्यर्थः । अनुभूयमानाद्वन्धादेस्तदिच्छया कल्पितात्क्षित्यादेश्वान्योऽहमनुभवात्मा स्थित इत्यर्थः ॥ १० ॥

एतज्ज्ञानं सुदुर्लभमित्याह-

न मां विन्दन्ति पापिष्ठा मायासोहितचेतसः ।

त्रिविकारा मोहयति प्रकृतिर्मे जगत्रयम् ॥ ११ ॥

पापकर्तृत्वेन तत्संबन्धिनः पापिष्ठाः । अतिदुष्टाः पाप्माण्डिन इत्यर्थः । ते हि देहाद्यात्मवादिनः । माम्, “अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्” (क०२।२२) इति श्रुतेः कालत्रयेऽपि शरीरसंबन्धरहितं मां न विन्दन्ति न लभन्ते । तत्र हेतुः-मायासोहितचेतसः । मायावद्भिः पापण्डैर्वोदितं चेतो येषां ते तथा । त्रयो विकारा यस्याः सा प्रमातृप्रमाणप्रमेयाख्या वा जाग्रदस्वप्नसुषुप्त्याख्या तमोरजःसत्त्वाख्या वा त्रिविकारा मे मत्संबन्धिनी प्रकृतिर्माया “मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्” (श्वे० ४।१०) इति श्रुतेः सर्वकार्योपादानभूता तादृशान्पूज्यमानेतदवति न ह्ययं मोहोऽधसमध्येषु तिष्ठन्ननुष्येष्टेन वर्तते, अपि तूत्तमेषु देवदेवेष्वपि श्रूयते “प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्” (ऐ०वा० १३।९) इति ॥ ११ ॥

मायानिवृत्त्युपायमाह-

यो मे तत्त्वं विजानाति मोहं त्यजति सोऽखिलम् ।

अनेकैर्जन्मभिश्चैवं ज्ञात्वा मां मुच्यते ततः ॥ १२ ॥

यः पुमान्मे मम तत्त्वं निष्कलानुभवरूपं विजानाति स मे मद्विषयं मोहं मायाख्यमज्ञानं त्यजति सकार्यं मोहं ज्ञानेन नाशयतीत्यर्थः । अखिलमिति विदेहकैवल्याभिप्रायम् । ज्ञाततत्त्वस्यापि प्रारब्धकर्मोपभोगार्थं

१ ख. 'षु आमुमत्सूत्र' । २ ख. घ. पापीया' । ३ घ. 'यती प्र' । ४ ख घ पापी याया' । ५ क. सर्वः का' । ६ क. घ. 'थोपदा' । ७ क कार्यमो' । ८ क. ख. 'ने ना' । ९ घ. 'गार्थमा' ।

मा[या]ले शानुवृत्त्युपगमात् । “ भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ” (श्वे० ११-१० ) इति श्रुतौ जीवन्मुक्तिकाले निवृत्ताया अपि मायायाः पुनर्निवृत्त्यभिधानं विदेहकैवल्याभिप्रायमिति व्याख्यातत्वाच्च । इदं च बहुजन्मसाध्यमित्याह—अनेकैरिति । ज्ञानार्थं भूयान्यन्तः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥१२॥

ज्ञाननिष्ठारहिताः कामनावन्तोऽपि मदन्त्यस्य यष्टव्यस्याभावान्मामेव तत्तद्देवतारूपं यजन्त इत्याह—

अन्ये नानाविधान्देवान्यजन्ते तान्ब्रजन्ति ते ।

यथा यथा मतिं कृत्वा भजते मां जनोऽखिलः ॥ १३ ॥

ज्ञानिभ्योऽन्ये नानाविधान्देवान्सात्त्विकराजसतामसानिन्द्रादीन्यक्ष-  
रक्षःप्रभृतीन्प्रेतभूतगणादींश्च यथाधिकारं कामनानुसारेण यजन्ते ताने-  
वेष्ट्वा स्वस्वाराध्यांस्त आराधका ब्रजन्ति प्राप्नुवन्ति । यथा यथा स्वां येन  
येन प्रकारेण सात्त्विकेन राजसेन तामसेन वा कामेन रञ्जितां मतिं  
वृढनिश्चयं कृत्वाऽखिलो जनो मामेव भजते मदम्बस्य भजनीयस्या-  
भावात् ॥ १३ ॥

ततः किमित्यत आह—

तथा तथाऽस्य तं भावं पूरयाम्यहमेव तम् ।

अहं सर्वं विजानामि मां न कश्चिद्विबुध्यते ॥ १४ ॥

अस्य जन्तोः । तथा तथा तेन तेन प्रकारेण मामाराधयतस्तं तं भावं  
मनोरथं बुद्ध्वाऽहमेव पूरयामि द्वौ तं तमिति शब्दौ व्यवहितावपि तं तमि-  
त्येकीकृत्य व्याख्येयौ तथातथेति वीप्सानुगुण्यार्थं तमिममाराधकानां  
भावं सर्वदेवतात्मकत्वादहं विजानामि कश्चिदप्याराधको मेदप्रधानह-  
ष्टिमां तत्तद्देवतारूपं न बुध्यते न जानाति ॥ १४ ॥

कुतो न बुध्यत इत्याह—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं न विदुः काममोहिताः ।

नाहं प्रकाशतां यामि अज्ञानां पापकर्मणाम् ॥ १५ ॥

अव्यक्तममूर्तं मां साधकानुग्रहार्थं तत्तन्मूर्तिभेदेन व्यक्तिं स्पष्टता-  
मापन्नं सर्वासु मूर्तिष्वनुगतमेकमपि मां मूर्तिभेदापहृतचेतसा न विदुर्न-  
जानन्ति । किंतु नानात्वमवजानन्ति । अत्यन्तकाममोहिताः कामैः  
सात्त्विकराजसतामसैर्मोहिताः । तथा हि सात्त्विकाः स्वर्गकामा यजन्ते

राजसा ऐहिकसुखकामाः । तामसाः परोन्मादनादिकामाः । यथाकामं तास्ता देवता भजन्त इत्यर्थः । अतस्तादृशानां मज्ञा ( ज्ञा ) नं दुर्लभ-मित्याह—नाहमिति । स्पष्टार्थः ॥ १५ ॥

ननु काममोहितास्त्वां न भजन्ते । त्वं च तेषां प्रकाशो न भवसि तर्हि का तेषां गतिरित्यत आह—

यः स्मृत्वा त्यजति प्राणमन्ते मां श्रद्धयाऽन्वितः ।

स यात्यपुनरावृत्तिं प्रसादान्मम भूभुज ॥ १६ ॥

हे भूभुज भुवं पृथ्वीं भुनक्ति पालयतीति भूभुजः । यथा राजा तथा प्रजेति न्यायेन त्वयि मच्चिन्तनपरे सर्वोऽपि लोकस्त्वादृशो भविष्यतीति सूचयन्संबोधयति हे भूभुजेति । निरन्तरं मम स्मरणं तथा कुर्याद्यथा वृढतरात्संस्कारादन्तकालेऽपि श्रद्धापूर्वकं मम स्मरणं भवेत् । ततश्चान्ते मतिः सा गतिरिति वचनात्स मद्भावगतः पुनः संसारं न भजते । अतो मत्स्मरणमेव तैरवश्यं कार्यमिति । एवमेव तेषां मुक्त्युपाय इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अयमेव न्यायो देवतान्तरध्यानेऽपि समान इत्याह—

यं यं देवं स्मरन्भक्त्या त्यजति स्वं कलेवरम् ।

तत्तत्सालोक्यमायाति तत्तद्भक्त्या नरोत्तम ॥ १७ ॥

यं यं देवं विष्णुं रुद्रं गौरीं गणेशं सूर्यं वा भक्त्या भक्तिपूर्वकमन्ते कलेवरं स्वं स्वकीयं त्यजति तस्य तस्य देवस्य सालोक्यं समान-लोकवासमायाति प्राप्नोति । सालोक्यमित्युपलक्षणं भावनातारतम्या-त्सामीप्यसारूप्यसायुज्यानामपि प्राप्तेः संभवात् । न केवलं मेते देवता-स्मरणेनैव तत्तत्सालोक्यादिकं लभन्ते । अपि तु यत्किंचिदपि भावं भक्त्या प्रीत्या स्मरन्नेतत्कलेवरं त्यजति तत्सारूप्यमपि लभते, यथा भरतो मृगं स्मरन्प्राणांस्त्यक्त्वा मृगतामेव प्राप्तः । तथा त्वं रूपादिपरो मा भूरिति सूचयन्संबोधयति नरोत्तमेति ॥ १७ ॥

भावनाविधारिशास्त्रमुपसंहरति—

अतश्चाहर्निशं भूप स्मर्तव्योऽनेकरूपवान् ।

सर्वेषामप्यहं गम्यः स्रोतसामर्णवो यथा ॥ १८ ॥

यस्मात्स्मर्ता स्मर्तव्यदेवतासालोक्यादिकं प्राप्नोति तस्माच्चकाराद्भ-क्तियुक्तश्चाहर्निशं सर्वदा हे भूप, अनेकरूपवानहं बहुरूपोऽप्यहं यत्किं-

चिद्रूपमालम्ब्य स्मर्तव्योऽस्मि । अन्यदेवतासारूप्यद्वाराऽपि नदीसमुद्र-  
न्यायेनाहमेव सर्वेषां गम्योऽस्मीत्यर्थः । पदार्थः स्पष्टः ॥ १८ ॥

अन्यदेवताभक्तोऽपि मां क्रममुक्तिन्यायेन मां न प्राप्नोति । अपि तु  
जन्मान्तरलाभपूर्वकमेव मां प्राप्नोतीत्याशयेनाऽऽह—

ब्रह्मविष्णुशिवेन्द्राद्यल्लोकान्प्राप्य पुनः पतेत् ।

यो मामुपैत्यसंदिग्धः पतनं तस्य न क्वचित् ॥ १९ ॥

ब्रह्मादिभिरीश्वरैराढ्यान्सर्वकामसंपन्नाल्लोकान्प्राप्य पुनः पतेत्तेभ्यो  
लोकेभ्यः पुनः पृथ्वीमेव प्राप्नोति न तूपर्युपरिलोकं गच्छति यस्तु माम-  
न्तरात्मानमुपैति पूर्वोक्तेन योगमार्गेणोपैति प्राप्नोति असंदिग्धोऽहं ब्रह्म  
न वेति संदेहहीनो ब्रह्मैवास्मीति निश्चयवानित्यर्थः । तादृशस्य पतनं  
क्वचिदपि काले नास्ति मुक्तानां पुनर्बन्धासंभवादिति भावः ॥ १९ ॥

नन्वेवमर्हन्निशं त्वां ध्यायतो देहयात्रा कथं स्यादित्यत आह—

अनन्यशरणो यो मां भक्त्या भजति भूमिप ।

योगक्षेमौ च तस्याहं सर्वदा प्रतिपादये ॥ २० ॥

अनन्यशरणो मदेकशरणो भक्त्या प्रीतिपूर्वकं मां गुरुदेवतारूपं  
भजति सेवते, अनन्यव्यापारः सन्भजति सेवते । तं हे भूमिप तस्य  
स्वशरीरनिर्वाहचिन्ताहीनस्याहं विश्वंभरो योगक्षेमौ चकारादन्यदपि  
योगानुकूलसंपादनं प्रतिकूलनिरसनं सर्वदा प्रतिपादये संपादयामीत्यर्थः ।  
तत्रालब्धलामो योगः । लब्धसंरक्षणं क्षेम मद्भक्तस्याहमेव सर्वमिष्टं  
संपादयामीत्यर्थः ॥ २० ॥

अथ योगिनां ज्ञानहीनानां प्राप्यौ द्वौ मार्गौ कर्मिणां धूमादिमार्गः  
पुनरावृत्तिहेतुः । योगिनामर्चिरादिमार्गः पुनरावृत्तिवर्जितः । तत्र  
योगिना मार्गोऽपि चिन्तनीयः । उपकोसलविद्यायामग्नय उपकोसलाय  
ब्रह्मविद्यां इत्वाऽऽचार्यस्तु ते गतिवक्तेति आचार्याधीनां गतिभागमवशो-  
षयति तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्चेतिसूत्रावयवेन गत्यनुस्मृतेर्विद्याशेषत्वाव-  
गमादुपासकस्याऽऽतिवाहिकदेवतामुचिन्तनार्थमर्चिरादिमार्ग उपदिश्यते ।  
धूमादिमार्गस्तु निन्दामुखेन तस्यैव स्तुत्यर्थ उपन्यस्यत इत्याशयेनाऽऽह—



द्विविधा गतिरुद्दिष्टा शुक्ला कृष्णा नृणां नृप ।

एकया परमं ब्रह्म परया याति संसृतिम् ॥ २१ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्गणेशगीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृतार्थ-  
शास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरण्यसंवादे  
बुद्धियोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

शुक्ला गतिर्देवयानमार्गः । तया मुख्यया परमं ब्रह्म याति । कृष्णा  
गतिः पितृयाणमार्गः । तया संसृतिं याति । शेषं सुगमम् ॥ २१ ॥

श्रीचातुर्धरभाणितौ गणेशगीता-

टीकायां गणपतिभावदीपिकायाम् ।

गम्भीरप्रतप्तसदर्थदर्शिकाया-

मध्यायः स्फुटहृदयो बभूव षष्ठः ॥

इति श्रीमत्पद्माक्ष्यप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्दसू-  
रिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां  
बुद्धियोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

पूर्वाध्यायान्त उक्ते द्वे गती तत्प्राप्ये च ब्रह्मसंसृती बुभुत्सुर्वरेण्य  
उवाच—

का शुक्ला गतिरुद्दिष्टा का च कृष्णा गजानन ।

किं ब्रह्म संसृतिः का मे वक्तुमर्हस्यनुग्रहात् ॥ १ ॥

ल्लुक्तेत्यादिचतुष्टयं मे मह्यं वक्तुमर्हसीत्यन्वयः । शेषं सुगमम् ॥ १ ॥  
पृष्ठमेवं गजानन उवाच—

अग्निज्योतिरहः शुक्ला कर्माहमयनं गतिः ।

चान्द्रं ज्योतिस्तथा धूमो रात्रिश्च दक्षिणायनम् ।

कृष्णैते ब्रह्मसंसृत्योरवाप्तेः कारणं गती ॥ २ ॥

अग्निज्योतिरहर्दिनं कर्माहमयनम् । एतन्नितयं शुक्ला गतिः । तथा

चान्द्रं ज्योतिर्धूमो रात्रिर्दक्षिणायनमेतच्चतुष्टयं कृष्णा गतिरिति व्यव-  
हितेन संबन्धः । एते गती क्रमाद्ब्रह्मसंसृत्योरवाप्तेः कारणम् । शुक्ला  
गतिर्ब्रह्मावाप्तेः कारणं कृष्णा गतिः संसृत्यवाप्तेः कारणमिति  
भावः ॥ २ ॥

शुक्लगतिप्राप्यं ब्रह्माऽऽह सार्धेन—

दृश्यादृश्यमिदं सर्वं ब्रह्मैवेत्यवधारय ॥ ३ ॥

दृश्यं मर्तमदृश्यममूर्तम्, इदंकारास्पदं सर्वं न मुख्योऽस्मदर्थः  
किंतु नास्त्येवैदमिति मत्वा ब्रह्मैवेदं मरीचिकोदकवदवभासत इत्यव-  
धारय निश्चिनु तथा च श्रुतिः—“द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ”  
( मैत्र्यु० ६।३ ) इति ब्रह्मतद्रूपे चोपक्षिप्य, अथात आदेशो नेति नेती-  
त्यभ्यासेन द्वे अपि रूपे निषिध्य न ह्येतस्मादन्यत्परमस्तीति ब्रह्ममात्रा-  
स्तित्वमवधारयति ॥ ३ ॥

क्षरं पञ्चात्मकं विद्धि तदन्तरक्षरं स्मृतम् ।

उभाभ्यां यदतिक्रान्तं शुद्धं विद्धि सनातनम् ॥ ४ ॥

यत्पञ्चात्मकं पञ्चीकृतापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतघटितं स्थूलसूक्ष्मशरीर-  
द्वयं पञ्चात्मकं तत्क्षरं क्षरणस्वभावं नश्वरं विद्धि जानीहि । तदन्तः,  
तस्य क्षरस्यान्तर्मध्यप्रविष्टमक्षरं ब्रह्म विद्धि । “तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्रा-  
विशत् ” ( तै० २।६।१ ) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य प्रवेशदर्शनात् ।  
उभाभ्यां यदतिक्रान्तं पञ्चात्मकात्परात्तदभिमानहृषितादक्षराच्च यदति  
अत्यन्तं, क्रान्तं दूरे स्थितं प्रकाश्यात्रैलोक्यात्प्रकाशकः सवितेव यदतिवि-  
विक्तं तद्ब्रह्म शुद्धं सनातनं सततैकरूपं विद्धि जानीहि । तथा च भग-  
वताऽप्युक्तम्—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ इति ॥ ४ ॥

एवं शुक्लगत्या क्रमप्राप्यं ब्रह्मोक्त्वा कृष्णगत्या क्रमप्राप्यां संसृ-  
तिमाह—

अनेकजन्मसंभूतिः संसृतिः परिकीर्तिता ।

संसृतिं प्राप्नुवन्त्येते ये तु मां गणयन्ति न ॥ ५ ॥

अनेकेषु जन्मसु सुरनरतिर्यगादिशरीरग्रहणेपु प्राप्तेषु तेन तेन शरीरेण

संभूतिरेकीभवनं तत्तच्छरीरतादात्म्यमिति संसृतिं संसृतिलक्षणं तां ये मां न गणयन्ति निरीश्वरास्त एते संसृतिं प्राप्नुवन्ति ॥ ५ ॥

एवं संसृतिं तत्तत्कारणं च निरीश्वरत्वमुक्तम् । अथ तन्निराकरणोपायमाह-

ये मां सम्यगुपासन्ते परं ब्रह्म प्रयान्ति ते ।

ध्यानाद्यैरुपचारैर्मां तथा पञ्चामृतादिभिः ॥ ६ ॥

ध्यानाद्यैर्मैत्रायणीये प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडङ्गा इति षडङ्गो योग उक्तः । तत्र बहिरङ्गत्वादसकृदुक्तत्वाच्च द्वे अङ्गे उपेक्ष्य ध्यानाद्यैश्चतुर्भिर्ये मामुपासन्ते ते परं ब्रह्म प्रयान्ति । उपासन्त इति मौवादिकत्वमार्थं, तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानं, धारणा चित्तस्य मय्यवस्थापनं, तर्को योगसिद्धिभ्यो विघ्नोन्नयनम् । समाधिर्निर्विकल्पात्मनाऽवस्थितिरिति मुख्य उपासनाप्रकार उक्तः । अतिप्राकृतानां बाह्यपूजामाह-उपचारैर्मामित्यादिना ॥ ६ ॥

स्नानवस्त्रायलंकारसुगन्धधूपदीपकैः ।

नैवेद्यैः फलताम्बूलैर्दक्षिणाभिश्च योऽर्चयेत् ॥ ७ ॥

भक्त्यैकचेतसा चैव तस्येष्टं पूरयाम्यहम् ।

एवं प्रतिदिनं भक्त्या मद्भक्तो मां समर्चयेत् ॥ ८ ॥

समर्चयेदित्यन्तो ग्रन्थः स्पष्टार्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

एवं द्वितीयपूजाप्रकारमुक्त्वा तृतीयमाह-

अथ वा मानसीं पूजां कुर्वीत स्थिरचेतसा ।

अथ वा फलपत्राद्यैः पुष्पमूलजलादिभिः ॥ ९ ॥

स्थिरचेतसाऽन्तर्मुखेण मनसा मानसीं मनोमयद्रव्यसाध्यां पूजां कुर्वीत तत्र पूर्वं लौकिकद्रव्यसाध्या पूजोक्ता । तदपेक्ष्य पक्षान्तरम्-अथवेति । फलपत्राद्यैर्मनोराज्यवत्कल्पितैरिति शेषः ॥ ९ ॥

आसु पूजास्वन्यतमयाऽपीष्टार्थी मां पूजयेदित्याहार्धेन-

पूजयेन्मां प्रयत्नेन तत्तदिष्टफलं लभेत् ।

एवमपि मानस्याः श्रैष्ठ्यमाह—

त्रिविधास्वपि पूजासु श्रेयसी मानसी मता ॥

तत्र ध्यानाद्यैः पूजाऽतिश्रेष्ठतमाऽपि प्राकृतानां दुःसाध्या बाह्यद्रव्य-  
साध्या प्रशस्ताऽपि वहिर्मुखत्वानिवर्तकत्वान्न श्रेयसी । मानसी त्वन्त-  
र्मुखतायाः साधकत्वाच्छ्रेयसीति स्पष्टम् । मानस्यपि निष्कामेण कृताऽ-  
त्युत्तमेत्याहार्धेन—

साऽप्युत्तमा मता पूजाऽनिच्छया या कृता मम ॥ १० ॥

साऽप्युत्तमा मता पूजाऽनिच्छया या कृता ममेति स्पष्टः सार्ध-  
श्लोकः(?) ॥ १० ॥

चतुर्णामाश्रमिणामन्यतमो वा तदन्यो वा सच्छूद्रादिर्यां कांचिदेकां  
पूजां कुर्वाणोऽपि सोपानारोहक्रमेणोर्ध्वमूर्ध्वा भूमिं प्राप्य सिद्धिं विन्द-  
तीत्याह—

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिश्च यः ।

एकां पूजां प्रकुर्वाणोऽप्यन्यो वा सिद्धिमृच्छति ॥ ११ ॥

य एकामपि पूजां प्रकुर्वाणो भवति स सिद्धिमृच्छतीति संबन्धः ॥ ११ ॥

लौकिकप्रसिद्धं हरिहरगौरीगणेशसूर्यादीनां देवतानां भेदमादा-  
याऽऽह—

मदन्यदेवं यो भक्त्या द्विषन्मामन्यदेवताम् ।

सोऽपि मामेव यजते परं त्वविधितो नृप ॥ १२ ॥

अहं सर्वेषां प्रत्यगात्मा तस्मान्मत्तोऽन्यो देवो हरिहरादिष्वन्यतमस्तं  
यो भक्त्या यजते, किंभूतो मामेव स्वाराध्यदेवतापेक्षयाऽन्यदेवतारूपं  
द्विषन्भवति सोऽपि भेददर्शी मामेव मूर्त्यन्तरधारिणं द्विषन्नपि मूर्त्यन्तर-  
रूपं यजते पूजयति सोऽपि पूजाफलं किञ्चिद्विभक्त एव न तु पूर्णं परं  
त्विति तु शब्देन भेदस्य दर्शितत्वात् । यतोऽविधितो विधिविरोधेन यज-  
नात् । \* तथाहि स्कान्दे—

\* तथेत्यादिः स्मरणादित्यन्तो ग्रन्थो घ. पुस्तके ।

ब्रह्माणं केशवं साम्बं भेदभावेन मोहिताः ।

पश्यन्त्येकं न जानन्ति पाखाण्डोपहता जनाः ॥

इतिभेददर्शननिन्दास्मरणात् । एष उ ह्येव सर्वे देवाः ( बृ० १।४।६ )  
इत्येकस्यैव सर्वदेवतारूपत्वश्रवणाच्च । ऐक्यादर्शनं भेददर्शनं च देवतासु  
प्रत्यवायावहमित्यभिप्रेत्याविधित इत्युक्तम् ॥ १२ ॥

एतदेव विवृणोति-

यो ह्यन्यदेवतां मां च द्विषन्नन्यां समर्चयेत् ।

याति कल्पसहस्रं स निरयान्दुःखभाक्सदा ॥ १३ ॥

यो हि भेदवादी स्वाराध्यदेवतापेक्षयाऽन्यां देवतां द्विषन्भवति मां  
च सर्वदेवतासमष्टिमेकमन्तरात्मानं द्विषन्नन्यां स्वाभिमतां देवतां समर्च-  
येत्तस्य दण्डमहं करोमीत्यादि स्पष्टम् । तथा च स्मर्यते-

यः पुत्रः पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम् ।

हरिं हरं वा यो द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम् ॥ इति ॥ १३ ॥

अथ तान्त्रिकीं पूजां तदकरणे प्रत्यवायं चाऽऽहचतुर्भिः श्लोकैर्भूत-  
शुद्धिमित्यादिभिः-

भूतशुद्धिं विधायाऽऽदौ प्राणानां स्थापनं तथा ।

आकृष्य चेतसो वृत्तिं ततो न्यासमुपक्रमेत् ॥ १४ ॥

कृत्वाऽन्तर्मातृकान्यासं बहिश्चाथ षडङ्गकम् ।

न्यासं च मूलमन्त्रस्य ततो ध्यात्वा जपेन्मनुम् ॥ १५ ॥

स्थिरचित्तो जपेन्मन्त्रं यथागुरुमुखागतम् ।

जपं निवेद्य देवाय स्तुत्वा स्तोत्रैरनेकधा ॥ १६ ॥

एवं मां य उपासीत स लभेन्मोक्षमव्ययम् ।

य उपासनया हीनो धिङ्नरो व्यर्थजन्मभाक् ॥ १७ ॥

स्पष्टार्था एते श्लोकाः ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

इतोऽप्यन्तरङ्गकर्माङ्गावबद्धमात्मोपासनमात्मन ऐकात्म्यज्ञानफलमाह  
यज्ञोऽहमित्यादिना सार्धेन-

यज्ञोऽहमौषधं मन्त्रोऽग्निराज्यं च हविर्हुतम् ॥ १८ ॥

ध्यानं ध्येयः स्तुतिः स्तोत्रं नतिर्भक्तिरुपासना ।

त्रयीज्ञेयं पवित्रं च पितामहपितामहः ॥ १९ ॥

अहं पितामहं आनन्दः सोऽहं पितामहपितामहः । यथा भूरेव बीजाङ्कुरवृक्षस्कन्धशाखापल्लवप्रवालपुष्पफलात्मना विकसति एवम-हमेव सर्वदृश्यात्मना स्फुरामीतीयमुपासनोपदिश्यते । यज्ञो देव-तोद्देशेन द्रव्यत्यागः सोऽप्यहमिति सर्वत्र संबन्धनीयम् । औषधं व्रीह्यादि हविः । मन्त्रः, ऋग्यजुःसामात्मा । अग्निर्होमाधिकरणम्, आज्यं प्रसिद्धं हविरवदानं व्यवदानं वा हुतम्, अग्नौ प्रक्षेपः । कर्माङ्गदेवतानामेव ध्यान-माकारचिन्तनं ध्येयो देवताविग्रहः । स्तुतिर्देवतायाः प्रशंसा, स्तोत्रं तत्समर्पकः शब्दः । नतिर्नमस्कारः । भक्तिराराध्यत्वेन ज्ञानम् । उपा-सना देवतादिविषया प्रत्ययावृत्तिः । त्रयी ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाः । ज्ञेयं कर्मब्रह्मणोः स्वरूपं, पवित्रम् । अग्निः पवित्रं सोमः पवित्रं वायुः पवित्रमित्यादि । अथ वा यज्ञादिभिः शोधितमात्मप्रतिपत्ति-योग्यं मन एव पवित्रपदार्थः । एतत्सर्वं परमात्मत्वेनैव चिन्तनीय-मिति भावः ॥ १८ ॥ १९ ॥

इतोऽप्यन्तरङ्गं भावनामाह ऐहिकात्म्यदृष्टिर्दाढ्यमेव(?) ओङ्कार इत्या-दिना सार्धद्वयेन—

ओङ्कारः पावनं साक्षी प्रभुर्मित्रं गतिर्लयः ।

उत्पत्तिः पोषको बीजं शरणं वास एव च ॥ २० ॥

असन्मृत्युः सदमृतमात्मा ब्रह्माहमेव च ।

दानं होमस्तपो भक्तिर्जपः स्वाध्याय एव च ॥ २१ ॥

यद्यत्करोति तत्सर्वं समे मयि निवेदयेत् ॥ २२ ॥

ओङ्कारो ध्यानप्रतिकं, पावनं चित्तशोधकं तदर्थस्यैव ध्यानं, साक्षी असङ्गचिद्रूपोऽहमिति बोधः । प्रभुर्जगत्कर्ता, मित्रं योगिनामासतमः । गतिर्मुक्तोपसृप्यः । लयो लीयतेऽस्मिन्सर्वमिति व्युत्पत्त्या द्वैतबाधाधिष्ठा-नम् । व्यतिरेकमुक्त्वाऽन्वयमाह—उत्पत्तिर्जगदुद्भवस्य मुख्यं स्थानं, पोषकः स्थितिकृत् । बीजं सर्वप्रलयेऽपि सूक्ष्मं चाऽऽह मन्मनोवस्थितं लयः शरणं वास इति त्रिविधप्रलयप्रतिपादकाः पर्यायाः । असदिति

१ क. 'ओ ह्यमिराज्यं ह' । २ क. अहपि । ३ ख. 'महपितामहः । ४ घ. 'नं यव' ।

५ घ. 'ष्टि दीर्घमे' ।

तुच्छं द्वैतं मृत्युरिति । सदमृतमिति तद्विपरीतमद्वैतम् । अत्रैव तमोज्यो-  
तिषी अप्युपसंहर्तव्ये । तथा चाभ्यारोहमन्त्रे त्रिकद्वयं वृश्यते—“असतो-  
मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय”( बृ० १।३।२८ )  
इति । आत्मा जीवः । ब्रह्म प्रसिद्धं तदुभयमप्यहमेव, दानादीनि षट्प्रसि-  
द्धानि तेषु षट्सु यद्यत्करोति तत्सर्वं समेऽविषमे सर्वभूतानामनुग्राहके  
मातापितृसहस्रेभ्य आप्ततमे मयि निवेदयेदर्पयेत् । एतदेव विहितं भग-  
वता यत्करोषीत्यादिना ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

एवं मयि सर्वकर्मार्पणं कुर्वन्तो मूढा योषिदादयोऽपि मुच्यन्ते किमुत  
सुधिय इत्याह—

योषितोऽथ दुराचाराः पापास्त्रैवर्णिकास्तथा ।

मदाश्रया विमुच्यन्ते किं मद्भक्ता द्विजातयः ॥ २३ ॥

पिङ्गला वेश्या सर्वजनवञ्चका च या क्षणमात्रं मदाश्रयं कृत्वा मुक्ता ।  
एवमजामिलादयोऽप्युदाहार्याः । एवं हि मद्भक्ता द्विजादयो मुच्यन्ते  
इति किं वाच्यम् ॥ २३ ॥

भक्तिमेव संक्षेपेणाऽऽह—

न विनश्यति मद्भक्तो ज्ञात्वेमा मद्विभूतयः ।

प्रभवं मे विभूतीश्च न देवा ऋषयो विदुः ॥ २४ ॥

मद्भक्त इमा वक्ष्यमाणा ममैव विभूतय इति ज्ञात्वा न विनश्यति,  
कास्ता विभूतय इत्यत आह—मे मदीयं प्रभव इदं जगन्मत्त एवोद्भूतमिति  
देवाद्या अपि न विदुः । एवं विभूतीश्च विशेषेण ममाऽऽविर्भावं स्थाना-  
न्यपि ते न विदुः । दुर्लभमेतद्भूतानामेव भक्तिरिति भावः ॥ २४ ॥

साधारण्येन विभूतीस्तल्लक्षणं चाऽऽह—

नानाविभूतिभिरहं व्याप्य विश्वं प्रतिष्ठितः ।

यद्यच्छ्रेष्ठतमं लोके सा विभूतिर्निबोध मे ॥ २५ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भणेशगीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृतार्थ-

शास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरे-

ण्यसंवादे विभूतियोगो नाम

सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अहं नानाविधाभिर्विभूतिभिर्विश्वं व्याप्य स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितोऽस्मि स भगवान्कस्मिन्प्रतिष्ठित इति “स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः” (छा० ७।२४।१) इति प्रश्नोत्तरस्यादर्शनाद्विभूतिपदार्थमाह यद्यदिति । कृत्स्नब्रह्माण्डमेव मत्तो जातत्वान्मद्रूपमितिज्ञानपूर्वकं सर्वप्रपञ्चाराधनं कर्तुमशक्नुवन्यद्यन्मनुष्यपशुवृक्षौषधादिषु श्रेष्ठतमं लोके सा मे मम विभूतिरिति निबोध निश्चयेन बुध्यस्व यद्यदुत्तमं तदेव मद्विभूतिरिति बुद्ध्वा नमस्कारादिना पूजयेदिति भावः ॥ २५ ॥

श्रीचातुर्धरभणितौ गणेशगीता-

टीकायां गणपतिभावदीपिकायाम् ।

गम्भीरप्रतप्तसदर्थदर्शिकाया-

मध्यायः स्फुटहृदयोऽत्र सप्तमोऽभूत् ।

इति श्रीमत्पद्माव्यप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्दसू-

रिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां गणपति-

भावदीपिकायां विभूतियोगो नाम

सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

पूर्वस्मिन्नध्याये भावनाव्यपदेशेन यज्ञोऽहमित्यादिना काश्चिद्विभूत-  
यस्त्वया मुखत एवोक्ता यद्यच्छ्रेष्ठतममित्यन्ते विभूतीनां लक्षणं चोक्तम् ।  
नारदमुखाच्च काश्चिद्विभूतयः श्रुताः । अन्तस्तु तासां नास्त्येवातो विश्व-  
रूपमेव त्वदीयं द्रष्टुमिच्छामि यस्मिन्हृष्टे कात्स्न्येन ताः सव्यग्विदिता  
भवन्तीत्यभिप्रायवान्वरेण्य उवाच—

भगवन्नारदो मह्यं तव नानाविभूतयः ।

उक्तवांस्ता अहं वेद न सर्वाः सोऽपि वेत्ति ताः ॥ १ ॥

या विभूतयः सन्ति ता मे मह्यं नारद उक्तवानित्यध्याहृत्य योग्यम् ।  
तास्तदुक्ताश्चाहं वेद परं तु सोऽपि न ताः सर्वा वेत्तीत्यानन्त्यादिति  
भावः ॥ १ ॥

एवं तर्हि मयाऽपि वक्तुमशक्या इत्यत आह—

त्वमेव तत्त्वतः सर्वा वेत्ति ता द्विरदानन ।

निजं रूपमिदानीं मे व्यापकं चारु दर्शय ॥ २ ॥

हे द्विरदानन गजमुख त्वं ताः सर्वा वेत्ति, यद्यप्याकाशोऽस्माकमन-



न्तस्तथाऽपि तन्निर्मातुस्तव परिमित एवातस्त्वं ताः सर्वा वेत्सि त्वद्वै-  
श्वरूप्यदर्शनेनैव ताः सर्वा दृष्टा भवन्तीति तदेव दर्शयेति भावः । पद-  
योजना स्पष्टा ॥ २ ॥

तमिष्टार्थसमर्पणेनानुगृह्णन्गजानन उवाच—

एकस्मिन्मयि पश्य त्वं विश्वमेतच्चराचरम् ।

नानाश्रयाणि दिव्यानि पुरा दृष्टानि केनचित् ॥ ३ ॥

एकस्मिन्मयि मच्छरीर आदर्शप्रख्ये सर्वं स्थावरं जङ्गमं च पश्य  
“कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति” ( मु० १।१।३ ) इति  
सर्वेषु वेदान्तेष्वेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानं श्रूयते तदेव त्वमपरोक्षीकृत्य कृत-  
कृत्यो भवेति भावः । यानि मयि केनचिन्नारदादिना पूर्वं दृष्टानि  
दिव्यान्यलौकिकानि ब्रह्मलोकान्तान्येकस्मिन्पश्येति संबन्धः ॥ ३ ॥

बाह्येन चक्षुषा यददृष्टं तदल्पमेव रूपं न तु कृत्स्नमतस्ते तुभ्यं ज्ञान-  
चक्षुः सृजामि ददामीत्याह—

ज्ञानचक्षुरहं तेऽयं सृजामि स्वप्रभावतः ।

चर्मचक्षुः कथं पश्येन्मां विभुमजमव्यम् ॥ ४ ॥

स्वप्रभावत इत्यनेनानुग्रहविशेषः स्पष्टीकृतः । चर्मचक्षुरित्यादिना  
प्रतिकृत्य(हन्य)ते(?)न च सूक्ष्मं दूरस्थं वा ग्रहीतुं शक्नोति समीपस्थमपि  
वस्तु, एकदेशेनैव संसृष्टं संचक्षुरतं न गृह्णाति, अतोऽहं विभुं विवि-  
धरूपेण भवतीति विभुः । एवमप्यजं जन्मरहितम् । अव्ययमक्षयमेतादृशं  
मां दिव्यमेव चक्षुर्ग्रहीतुं शक्नोत्यतस्तत्ते ददामि ॥ ४ ॥

तमिमं वरेण्यगणेशसंवादं सूताग्रे कथयन्व्यास उवाच—

ततो राजा वरेण्यः स दिव्यचक्षुरवैक्षत ।

ईशितुः परमं रूपं गजास्यस्य महान्द्रुतम् ॥ ५ ॥

ततो गणेशानुग्रहादिव्यचक्षुः स राजा, ईशितुर्गणेशस्य परं रूपम-  
वैक्षतापश्यत् । परममलौकिकं, महच्च तदद्भुतं महान्द्रुतं, सर्वतः परि-  
पूर्णं नानाश्रयमयं च ॥ ५ ॥

१ ख. 'त्वाद्विश्वरूप द' । २ क. ख. 'नि एक' । ३ घ. सत्कृत्स्न न° । ४ ख. 'क्षरमे' ।

५ घ. दिव्यं मे च° ।

अद्भुतत्वमेव वर्णयति सार्धाम्याम्—

असंख्यवक्त्रललितमसंख्याङ्घ्रिकरं महत् ।

अनुलिप्तं सुगन्धेन दिव्यभूषाम्बरस्रजम् ॥ ६ ॥

असंख्यनयनं कोटिसूर्यरश्मि धृतायुधम् ।

तद्वर्ष्मणि त्रयो लोका दृष्टास्तेन पृथग्विधाः ॥ ७ ॥

दृष्टैश्वरं परं रूपं प्रणम्य स नृपोऽब्रवीत् ॥

ललितं मनोहरं, ये हि सर्वेषां जन्तूनामवयवास्त एव सर्वात्मनो गणेशस्यावयवाः । अतस्तस्यासंख्यवक्त्रत्वादिकमुपपन्नं मनोहरत्वमनुलिप्तमित्यादिना दर्शितं. कोट्यः सूर्या रश्मिरेकोऽंशो यस्य तत्कोटिसूर्यरश्मि । असंख्यैर्हस्तैर्धृतानि, आयुधानि धनुर्बाणादीनि येन तत् । तद्वर्ष्मणि तस्य शरीरे, एवमब्रवीदित्यन्तः स्पष्टार्थः ॥

व्यास एव वरेण्यवाक्यमवतारयति वरेण्यउवाच—

वीक्षेऽहं तव देहेऽस्मिन्देवानृषिगणान्पितॄन् ॥ ८ ॥

हे विभो व्यापक गणपते । अस्मिन्पुरोवर्तिनि तव देह एतान्पदार्थानहं वीक्षे विशेषतः पश्यामि तानेवाऽऽह देवानित्यादिना ॥ ८ ॥

पातालानां समद्राणां द्वीपानां चैव भूभृताम् ।

महर्षीणां सप्तकं च नानार्थैः संकुलं विभो ॥ ९ ॥

पातालानां सप्तकं समुद्राणां सप्तकं द्वीपानां सप्तकं भूभृतां गोत्राचलानां सप्तकं महर्षीणां सप्तकमेते सप्तकाः प्रसिद्धाः । नानार्थसंकुलं विभो, इत्यत्र प्रतिसप्तकं नानार्थैः संकुलत्वं बोध्यम् ॥ ९ ॥

भुवाऽन्तरिक्षं स्वर्गाश्च मनुष्योरगराक्षसान् ।

ब्रह्मविष्णुमहेशेन्द्रान्देवाञ्जन्तूननेकधा ॥ १० ॥

भुवा सहान्तरिक्षं देवान्यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा इति श्रुतेः साध्यसंज्ञान्देवताविशेषान् । अनेकधाऽनेकप्रकारान् ॥ १० ॥

अनाद्यनन्तं लोकादिमनन्तभुजशीर्षकम् ।

प्रदीप्तानलसंकाशमप्रमेयं पुरातनम् ॥ ११ ॥

अनाद्यनन्तमिति देशत आद्यन्तशून्यं, लोकादिं लोकस्य निर्मातारं पूर्वसंख्यात आनन्त्यं भुजादीनामुक्तम् । इह तु अनन्तभुजशीर्षकमिति

कालत आनन्त्यमुच्यते, सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्वात्सर्वं सर्वदा सर्वावस्थं हार्दे  
ब्रह्मण्यस्तीति सर्वशास्त्रसिद्धान्तः । अप्रमेयं प्रमया परिच्छेत्तुमयोग्यं,  
पुरातनं पुराऽपि नवं संततैकरूपमित्यर्थः ॥ ११ ॥

किरीटकण्डलधरं दुर्निरीक्ष्यं मुदावहम् ।

एतादृशं निरीक्षे त्वां विशालवक्षसं प्रभुम् ॥ १२ ॥

किरीटेत्यादि ललितत्वव्याख्यानं मुदावहं भक्तानां हर्षकारकं विशालं  
सर्वतः परिच्छेदशून्यं वक्षः, वक्ष इति हृदयान्तर्वर्त्तिमनो गृह्यते तद्वन्तम-  
वन्ध्यसंकल्पमित्यर्थः । अत एव प्रभुं समर्थम् ॥ १२ ॥

सुरविद्याधरैर्यक्षैः किन्नरैर्भुनिमानुषैः ।

नृत्यद्भिरप्सरोग्भिश्च गन्धर्वैर्गानतत्परैः ॥ १३ ॥

वसुरुद्रादित्यगणैः सिद्धैः साध्यैर्मुदायुतैः ।

सेव्यमानं महाभक्त्या वीक्ष्यमाणं सुविस्मितैः ॥ १४ ॥

सुराद्यैः सेव्यमानमिति व्यवहितेनोत्तरेण संबन्धः । सुराद्यैरेव नाना-  
श्र्वर्यमयत्वात्सुविस्मितैर्वीक्ष्यमाणमित्यन्वयः । पदार्थानामर्थाः स्पष्टाः ॥ १३ ॥  
॥ १४ ॥

वेत्तारमक्षरं वेद्यं धर्मगोप्तारमीश्वरम् ।

पातालानि दिशः स्वर्गान्भुवं व्याप्याखिलं स्थितम् ॥ १५ ॥

भीता लोकास्तथा चाहमेवं त्वां वीक्ष्य रूपिणम् ।

नानादंष्ट्राकरालं च नानाविद्याविशारदम् ॥ १६ ॥

वेत्तारमित्यादि विशेषणम् । एवं त्वां वीक्ष्य लोकास्तथाऽहं च भीताः  
स्म इति द्वयोः संबन्धः । वेत्तारं सर्वज्ञम् । अक्षरं व्यापकम् । वेद्यं  
वेदान्तैरिति शेषः । धर्मगोप्तारमव्यभिचारेण धर्मफलस्य प्रापकम् ।  
ईश्वरं राजवद्वर्हिनिन्यन्तारम् । पातालादीनि व्याप्येतोऽन्यदखिल-  
मग्निवाय्वादिकं चान्तर्यामित्वेन व्याप्य स्थितं, दिश इत्याकाशग्रहणं,  
तथा च श्रुतिराकाशाद्यन्तर्यामिणं त्वां दर्शयति “य आकाशो  
तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याऽऽकाशः शरीरं य आका-  
शमन्तरो यमयत्येष त आऽत्मान्तर्याम्यमृतः ” ( ० ३।७।१२ ) इति ।

अन्तर्यामिणोऽपि कुतो भयहेतुत्वमत आह—नानादंष्ट्राकरालं चेति ।  
कुतस्तीहि भयनिवृत्तिरित्यत आह—नानाविद्याविशारदमिति । यथा  
नानाविधभयहेतवः सर्पादयः सन्ति तथा तत्तद्भयनिवर्तका गारुडादयो  
नानाविद्या अपि सन्ति तासां प्रवृत्तौ विशारदः पाण्डितश्च त्वमिति  
मत्वेति भावः ॥ १५ ॥ १६ ॥

प्रलयानलदीप्तास्यं जटिलं च नभःस्पृशम् ।

दृष्ट्वा गणेश ते रूपमहं भ्रान्त इवाभवम् ॥ १७ ॥

विश्वप्रलयानलदीप्तास्यं जटिलं च नभःप्रलयानलवत्सर्वतः प्रसृमराभि-  
ज्वालाभिर्दीप्तं ज्वलादिवास्यं यस्य तादृशं, तथाऽतिदीर्घं पुष्टं च यद्ग्रा  
भुवज्वालाभिश्च(?) नभःस्पृशन्तं(शं ते) त्वां दृष्ट्वा वीक्ष्य हे गणेश  
मदनुग्राहकाच्च त्तोऽन्यं नास्त्येवेति निश्चयवानपि दृष्टिविक्षेपेण भीत  
इवाभवं तथा स्वानुमानेन लोका अपि भीता इत्यप्यज्ञासिषम् । अतो  
लोकानां मम च भयनिवृत्त्यर्थं शान्तं रूपं दर्शयेत्यर्थः ॥ १७ ॥

ननु परमानन्दरूपिणो मम कथं भयहेतुत्वमित्याशङ्क्य द्वितीयाद्वै  
भयं भवति ( बृ० १।४।२ ) इति श्रुतेः सदर्पभयहेतु द्वैतं सर्वं त्वदुदरे  
एव तिष्ठति । तेषु च नागाद्याः खलाः परपीडकाः स्वकर्मजं दुःखं त्वत्त  
एव लभन्ते त्वय्येव लयं यान्तीत्याह—

देवा मनुष्यानां गायाः खलास्त्वदुदरेशयाः ।

नानायोनिभुजश्चान्ते त्वय्येव प्रविशन्ति च ॥ १८ ॥

पदार्थाः स्पष्टाः ॥ १८ ॥

त्वय्येव प्रविशन्ति चेत्यत्र दृष्टान्तमाह—

अब्धेरुत्पद्यमानास्ते यथा जीमूतबिन्दवः ॥ १९ ॥

आपो रसात्मिका धीयन्ते यस्मिन्नेकात्मप्रपञ्चोऽब्धिः । तस्मात्सूर्येण  
कृष्टाः सर्वे रसा जीमूतबिन्दुरूपेण त एव रसास्तमब्धिं यथा प्रविशन्ति  
तद्वत् । अपि चाऽऽहुः—सहस्रगुणमुत्सृष्टुमादत्ते हि रसं रविरिति ॥ १९ ॥

१ क. घ. 'निवृत्ति' । २ घ. भुवं जटाभि' । ३ क. दृष्ट क्षेत्र' । ख. 'दृष्टिक्षे' । ४ ख. 'तेः ।  
संभेद एव भयहेतुद्वैत । ५ क. 'न्दुपूर्णं न ।

न केवलं भूमत्त्वं त्वत्त उद्धूतामिदं त्वय्येव लयं यात्यपि तु स्व(स्थि)  
तिकालेऽपि त्वमेवेदं सर्वमित्याह-

त्वमिन्द्रोऽग्निर्यमश्चैव निर्ऋतिर्वरुणो मरुत् ।

गुह्यकेशस्तथेशानः सोमः सूर्योऽखिलं जगत् ॥ २० ॥

आधिदैविकमाधिभौतिकमाध्यात्मिकं त्रिविधं जगत्प्रागुत्पत्तेः प्रलया-  
दूर्ध्वं स्थितिकालेऽपि त्वमेव तदेत्यर्थः ॥ २० ॥

यद्येवं जानासि तर्हि कृतकृत्योऽसीत्यत आह-

नमामि त्वामतः स्वामिन्प्रसादं कुरु मेऽधुना ।

दर्शयस्व निजं रूपं सौम्यं यत्पूर्वमीक्षितम् ॥ २१ ॥

यथा यशोदायाः कृष्णशरीरे विश्वं दृष्टवत्या अपि पुनर्मोहो दृष्टः ।  
यथा वाऽर्जुनस्यापि पुनर्मोह आश्वमेधिके स्मर्यत एवं मम मा भूदित्येव-  
मर्थमहं त्वां नमामि हे स्वामिन्दीनदयालोऽधुना मयि प्रसादं कुरु  
प्रसादश्च तात्कालिकभ्रान्तिनिवृत्तिपूर्वकं भवतीति तामेव तावत्प्रार्थयते ।  
निजं मदाराध्यं रूपं दर्शयस्व दर्शयेत्यर्थः । [अथवा]स्वनिजमिति च्छेदः ।  
स्वेषां भक्तानां निजमात्मीयमनुग्राहकमूर्तिभूयम् ॥ २१ ॥

दुरन्तं त एव माहात्म्यमित्याशयेनाऽऽह-

को वेद लीलास्ते भूमन्क्रियमाणा निजेच्छया ।

अनुग्रहान्मया दृष्टमैश्वरं रूपमीदृशम् ॥ २२ ॥

\*ज्ञानचक्षुर्यतो दत्तं प्रसन्नेन त्वया मम ।

हे भूमन्, त्रिविधभेदगूण्य सत्तामात्रस्वरूप ते तव लीला मायावि-  
लसितानि को वेद न कोऽपीत्यर्थः । त्वया निजेच्छया विश्वरूपादिप्रद-  
र्शनाद्याः । क्रियमाणाः । उत्तरार्धं स्पष्टम् ॥ २२ ॥

एवं प्रार्थितो वरेण्यमनुगृह्णन्गजानन उवाच-

नेदं रूपं महाबाहो मम पश्यन्ति योगिनः ।

सनकाद्या नारदाद्याः पश्यन्ति मदनुग्रहात् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो यदिदं रूपं मदीयं त्वया दृष्टं तदितरे योगिनो न  
पश्यन्ति । अपि तु सनकाद्या नारदाद्या एव पश्यन्ति । अतस्त्वमपि  
मदनुग्रहात्तत्तुल्योऽसीति भावः ॥ २३ ॥

\* एतदर्थं न विद्यते ख घ. पुस्तकयोः ।

१ क. घ. भूतृत्वत्तत् । २ ख. 'वेदमुत्पादयसि स' । ३ ख. 'देवेल' । ४ ख. 'ति त्वामे' ।

ईदृशं मद्रूपदर्शनमत्यन्तदुर्लभमित्याह—

चतुर्वेदार्थतत्त्वज्ञाश्चतुःशास्त्रविशारदाः ।

यज्ञदानतपोनिष्ठा न मे रूपं विदन्ति ते ॥ २४ ॥

चत्वारो वेदास्तेषु त्रिभिर्वेदैर्यज्ञो विधीयते, चतुर्थेनोपासना विधीयते, तत्र यष्टव्यदेवतातत्त्वमुपास्यदेवतातत्त्वं च ये जानन्ति ते चतुर्वेदार्थतत्त्वज्ञाः । अर्थतत्त्वज्ञानेऽप्युपायाश्चत्वारि शास्त्राणि, तत्राऽऽदौ पदार्थमात्रज्ञानार्थं व्याकरणं, नच तावताऽर्थतत्त्वं निश्चेतुं शक्यमतः पूर्वमीमांसाख्यं द्वितीयं शास्त्रमपेक्षितम् । न हि “यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्” इति पदतत्त्वविदा प्रतिग्रहीत्र इष्टिः प्रापिता । “प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्स स्वां देवतामाच्छत्स पर्यदीर्यत स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्तमाहरतेनायजत ततो वै स वरुणपाशादमुश्चत” इत्युपक्रमगतपदकदम्बपर्यालोचनया पूर्वापरग्रन्थैकवाक्यताविदा मीमांसकेनैव दातुः प्रापितुं शक्या । तदेतदाह श्रुतिः “उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्” इति । त्व एकः शाब्दिकस्तार्किको वा वाचं वाचोऽर्थं न ददर्श, तथा वाङ्मन्यायविदपि मीमांसकः । तत्त्वमस्यादिवाक्ये तत्पदार्थः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरस्त्वं यदीयोऽल्पजोऽल्पशक्तिर्जीवः । अनयोरभेदो यजमानः प्रस्तर इति मद्भक्त एव भविष्यतीति लोकसिद्धैः पदार्थैर्व्यवहरन्मीमांसको वाक्यार्थविदपि महावाक्यार्थं विप्लवयत्येव । तदेतदुक्तम्—“उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्” इति । त्व एकमीमांसकः शास्त्रप्रतिपादिततत्त्वपदार्थानभिज्ञो महावाक्यार्थतः शृण्वन्नपि न शृणोत्येव कस्तर्हि वाचं शृणोति, आत्मा श्रोतव्य इतिशास्त्रेण प्रवर्तित उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गैस्तत्त्वपदार्थशोधपूर्वकमहावाक्यं जानाति नान्यः । नन्विहापि वाक्यार्थनिर्णयेऽपि न(?)तत्त्वसारेऽभेदे सिद्धेऽपि प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधाद्विपरीतभावना वाचाऽनात्मनि देहादावात्मभावा(व)रूपाऽऽदावस्तीति न वाक्यार्थानुभवपर्यमारोहतीत्याह “श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इति । मननान्निदिध्यासनाच्च यथाश्रुतमेव प्रकाशते । तदिदमाह “उतो त्वस्मै

१ क. ख. ‘मन्यतरदु’ २ क. ख. ‘तत्त्वं’ । ३ ख दातुं प्रा° । ४ क. वाङ्मन्याय° । ५ ख. तत्त्वपदार्थज्ञान° । ६ क. ‘र्थो अभि°’ । ७ क. ख. ‘लिङ्गैः सत्त्वं’ । ८ ख. ‘सारमे’ । ९ ख. पदमा° ।

तन्वाँ विसृजे जायेव पत्य उशती सुवासाः ” इति । त्वस्मै मनननि-  
दिध्यासनकारिणे वाक्स्वकीयं गुह्यं स्त्रीवत्प्रकाशयतीत्यर्थः । उशती  
कामयमाना । तदेवं व्याकरणं मीमांसावेदान्ताध्यात्मशास्त्रं(?)चेति चत्वारि  
शास्त्राणि । तत्रापि ध्यानवेदान्तयोरेव विकल्पः—ध्यात्वा वेदा-  
न्ताऽश्रुणुयाच्छ्रुत्वा ध्यायीतेति । सर्वथाऽपि चतुःशास्त्रविशारदा  
एवं मां जानन्ति । यज्ञादिनिष्ठास्तु तादृशरूपं न विदन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

भक्तिमतां सद्भाववतां चाहं वीक्षितुं प्रष्टुं शक्यो वीक्षितश्च ज्ञातुं  
शक्यो ज्ञातश्च प्रवेष्टुं शक्यो यस्मादेवं तस्मात्तव यद्ध्येयं रूपं तदेव  
पश्येत्याह—

शक्योऽहं वीक्षितुं ज्ञातुं प्रवेष्टुं भक्तिभावतः ।

त्यज भीतिं च मोहं च पश्य मां सौम्यरूपिणम् ॥ २५ ॥

स्पष्टोऽर्थः । अयं भावः—“बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रका-  
शावरणक्षयः ” इति योगसूत्रात्सौम्यायां गणपतिमूर्तेः देहासङ्गेन  
मनसो वृत्तिलाभो महाविदेहा नामेयं धारणा तस्यां सिद्धायां गणप-  
तिर्वीक्षितो भवति तत्रैव चेतसः संयमाद्बुद्धतराद्धानपरिपाकान्मूर्तेः  
परिच्छेदावरणरूपो(प)तिरोधाने सति परमार्थसत्यं वैश्वरूप्यं गणपतेः  
प्रकाशते । तदिदमेव गणपतिज्ञानं, विश्वरूपस्यापि त्रिकमात्रत्वात्सर्वावि-  
कल्पक्षयाह्नीनं मनो लवणोदकन्यायेन संप्रज्ञाते गणपतिमेव प्रविश-  
तीति । तदेतन्नयमुक्तं वीक्षितुं ज्ञातुं प्रवेष्टुमिति ॥ २५ ॥

अध्यायार्थमुपसंहरति—

मद्भक्तो मत्परः सर्वमद्गन्तव्यं मदर्थकृत् ।

निष्क्रोधः सर्वभूतेषु समो मामेति भूभुज ॥ २६ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृतार्थ-

शास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरेण्यसंवादे

विश्वरूपवीक्षणयोगो नामा-

ष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

मद्भक्तो बाह्यपूजापरः । मत्परो मानसपूजापरः । सर्वसङ्गहीनो  
ध्यातृध्यानध्येयप्रत्ययहीनो निर्विकल्प इत्यर्थः । मदर्थकृद्विक्षेपकाले  
लोकसंग्रहार्थं मदर्थानि यानि कर्माणि स्नानसंध्यावन्दनादीनि करोतीति  
मदर्थकृत् । निष्क्रोधः सर्वभूतेषु सर्वभूताभयप्रदः संन्यासी सम ऐक्यदर्शी  
मामेकमद्वितीयमेति प्राप्नोति हे भूभुज हे भूमिपालक ॥ २६ ॥

श्रीचातुर्धरभणितौ गणेशगीताटीकायां

गणपतिभावदीपिकायाम् ।

गम्भीरप्रततसदर्थदर्शिकाया-

मध्यायः स्फुटहृदयोऽष्टमो बभूव ।

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्द-

सूरिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां गणपति-

भावदीपिकायां विश्वरूपवीक्षणयोगो

नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

पूर्वाध्यायान्ते व्यक्ताव्यक्तयो रूपयोर्भजनमुक्तम् । तयोः कतरच्छ्रेय  
इतीदृसंदिहानो वरेण्य उवाच-

अनन्यभावस्त्वां सम्यङ्मूर्तिमन्तमुपासते ।

योऽक्षरं परमं व्यक्तं तयोः कस्ते मतोऽधिकः ॥ १ ॥

योऽनन्यभाव एकाग्रचित्तः । मूर्तिमन्तं व्यक्तं त्वामुपासते शपो लुग-  
भाव आर्षः । यश्चाक्षरोऽव्यक्तत्वादेव क्षरणहीनं त्वामव्यक्तं परं व्यक्ता-  
दुत्कृष्टमुपासते तयोः कस्ते मतोऽधिकः । व्यक्तं स्योत्युद्गा(स्य सुग्रा)ह्यत्वेऽ-  
प्यवरत्वादव्यक्तस्य परत्वेऽपि दुर्ग्रहत्वाच्चेत्याशयः ॥ १ ॥

अस्य संशयस्य च्छेत्ता त्वदन्यो नास्तीत्याशयेनाऽऽह-

असि त्वं सर्ववित्साक्षी भूतभावन ईश्वरः ।

अतस्त्वां परिपृच्छामि वद मे कृपया विभो ॥ २ ॥

सर्ववित्त्वात्त्वं मम यत्राधिकारोऽस्ति तज्जानासि । अतस्तदेव व्यक्त-  
मव्यक्तं वोपास्त्वं कथयेत्यर्थः । अतः परं पौनरुक्त्याद्ग्रन्थविस्तरभयाच्च



प्रतिपदं व्याख्यां न क्रियते । पूर्वोक्तमेव व्याख्यानमनुसंधेयं न तु म(वि)-  
स्मर्तव्यम् ॥ २ ॥

पृष्टेऽर्थे निर्णयं गजाननः उवाच—

यो मां मूर्तिधरं भक्त्या मद्भक्तः परिसेवते ।

स मे मान्योऽनन्यभक्तिर्नियुज्य हृदयं मयि ॥ ३ ॥

यः साधको मां मूर्तिधरं गणेशाद्यन्यतममूर्तिधरं भक्त्याऽऽदरेण  
मद्भक्तो मयि विषयेऽनलसं । कश्चिदादरवानप्यलसो मन्दप्रस्थानः सिद्धिं  
न विन्दति । कश्चिन्नियुक्तोऽपि श्रद्धारहितो न सिद्धिं विन्दति । अतः  
उभयमुक्तं मान्यो भक्तत्वेनाभिमतः । यस्मादनन्यभक्तिः, नास्त्यन्यत्रैहि-  
कामुष्मिकसुखसाधने भक्तिः श्रद्धा यस्य स तथा, मयि मूर्तिधरे हृदयं  
नियुज्य नितरां योजयित्वा सेवते स मे मान्य इति संबन्धः ॥ ३ ॥

व्यक्तोपास्तिफलं निरूप्याव्यक्तोपास्तिफलमाह द्वाभ्याम्—

खगणं स्ववशं कृत्वाऽखिलभूतहितार्थकृत् ।

मध्येऽयमक्षराव्यक्तं सर्वगं कूटगं स्थिरम् ॥ ४ ॥

पूर्वमाखिलभूतहितार्थकृदित्यनेन सर्वेषां भूतानां हितसाधनभूतो योऽर्थः  
प्रयोजनं कायवाङ्मनोभिः सर्वप्राणिसंतर्पणं यः करोति स एवास्मिन्नव्य-  
क्तभजनेऽधिकारी खगणमिन्द्रियगणं स्ववशं स्वाधीनं कृत्वा मामक्षरं  
च तदव्यक्तं चाक्षराव्यक्तं मां ध्यायति । मध्येऽयमिति पाठे मध्ये हृदय-  
पुण्डरीके, अयं परमात्माऽक्षराद्यक्तरूपोऽस्तीति तमेव कूटगं कूटस्थं  
निर्विकारे स्थिरं पूर्णत्वाच्चलं सर्वगं व्यापकम् ॥ ४ ॥

सोऽपि मामेत्यनिर्देश्यं मत्परो य उपासते ।

संसारसागरादस्मादुद्धरामि तमप्यहम् ॥ ५ ॥

सोऽप्यव्यक्तोपासकोऽपि । अनिर्देश्यं मामेति प्राप्नोति । यश्च  
पूर्वोक्तो मद्भक्तो मामुपासते तमप्यहं संसारसागरादस्मादुद्धरामि ।  
अयं भावः—अव्यक्तोपासकानां निरालम्बानां ध्याने क्लेशो यद्यप्यधि-  
कतरस्तथाऽपि त इहैवानिर्देश्यं ब्रह्म प्राप्य कृतकृत्या भवन्ति । व्यक्ता-

लम्बना अपीहैवाव्यक्तमारुह्य मुच्यन्ते, अनारूढास्तु कार्यब्रह्मलोकं प्राप्य कार्यान्ते कार्याध्यक्षेण सह मुच्यन्त इति ॥ ५ ॥

एतदेवाऽऽह—

अव्यक्तोपासनाद्दुःखमधिकं तेन लभ्यते ।

व्यक्तस्योपासनात्साध्यं तदेवाव्यक्तभक्तिः ॥ ६ ॥

पूर्वेषामव्यक्तोपासकानां दुःखसाध्या मुक्तिरित्युक्तं, व्यक्तोपासकानां त्वव्यक्तभक्तिद्वारा सुखसाध्येत्यर्थः । दुःखं यथा स्यात्तथा तेनाव्यक्तोपासकेनाधिकं प्रपञ्चातीति ब्रह्म लभ्यत इति संबन्धः ॥ ६ ॥

भक्तिमेव स्तौति—

भक्तिश्चैवाऽऽदरश्चात्र कारणं परमं मतम् ।

सर्वेषां विदुषां श्रेष्ठो ह्यकिञ्चिज्ज्ञोऽपि भक्तिमान् ॥ ७ ॥

अत्र मोक्षोपायेषु श्रवणमनननिदिध्यासनेषु भक्तिराराध्यत्वेन ज्ञानम्, आदरो ध्यानेऽत्यन्तावहितत्वम् । एतदुभयं बोधकारणम् । श्रवणादिहीनोऽपि ध्यानवाञ्छुद्ध इत्याह सर्वेषामिति ॥ ७ ॥

ध्यातुर्भक्तिमेवातिशयोक्त्या स्तौति—

भजन्भक्त्या विहीनो यः स चाण्डालोऽभिधीयते ।

चाण्डालोऽपि भजन्भक्त्या ब्राह्मणेभ्योऽधिको मम ॥ ८ ॥

स्पष्टार्थम् ॥ ८ ॥

भङ्ग्यन्तरेणोक्तमेव विधिमुखेन द्रढयति—

शुकायाः सनकायाश्च पुरा मुक्ता हि भक्तिः ।

भक्त्यैव मामनुप्राप्ता नारदायाश्चिरायुषः ॥ ९ ॥

शुकादितुल्यतां प्रेप्सुर्मयि भक्तिं कुर्यादिति भावः ॥ ९ ॥

भक्तेर्माहात्म्यमुपसंहरति—

अतो भक्त्या मयि मनो निधेहि बुद्धिमेव च ।

भक्त्या यजस्व मां राजंस्ततो मामेव यास्यसि ॥ १० ॥

पूर्वं मां भक्त्या यजस्व ततो यज्ञादिना विशुद्धचेतसः परमात्माऽवश्यं ज्ञातव्य इति निश्चयात्मिका धीवृत्तिर्बुद्धिर्भविष्यति । ततो गुरुमुपसन्नो

गुरुक्तयुक्त्या मयि मनो निधेहि ततो मां दृष्ट्वा कृतकृत्यो भविष्यसीति  
मावः ॥ १० ॥

यदि तु मनोनिरोधेन मां द्रष्टुमशक्तोऽसि तर्ह्यभ्यासयोगाभ्यां तान्नि-  
रोधं कुर्वित्याह—

असमर्थोऽर्पितुं स्वान्तं ध्रुवं मयि नराधिप ।

अभ्यासेन च योगेन ततो गन्तुं यतस्व माम् ॥ ११ ॥

अभ्यास( सो )ध्येयमूर्तौ चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं पुनःपुनर्यत्नः ।  
योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः । मां गन्तुं प्राप्तुं यतस्व यत्नवान्भव ॥ ११ ॥

अभ्यासादावसमर्थस्येश्वरार्पणबुद्ध्या स्वधर्माचरणमेव श्रेय इत्याह—

तत्रापि त्वमशक्तश्चेत्कुरु कर्मसमर्पणम् ।

ममानुग्रहतश्चैव परां निर्वृतिमेष्यसि ॥ १२ ॥

स्पष्टं पूर्वार्धम् । त्वया स्वधर्मेण संतर्पितस्य ममानुग्रहाच्चित्तशु-  
द्ध्यादिक्रमेण योगसिद्धिरूपादध्यात्मप्रसादात्सर्वेश्वरत्वाद्यनुभवापेक्षया  
परां श्रेष्ठां निर्वृतिं “ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।  
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ” ( तै० २।१।१ ) इति श्रुति-  
प्रसिद्धं वाङ्मनसातीतं कोशपञ्चकात्परं निर्वृतिशब्दितमानन्दमेष्यसि  
प्राप्स्यसि ॥ १२ ॥

स्वधर्मानुष्ठानेऽप्यशक्तस्य का गतिरित्यत आह—

अथैतदप्यनुष्ठातुं न शक्तोऽसि तदा कुरु ।

प्रयत्नतः फलत्यागं त्रिविधानां हि कर्मणाम् ॥ १३ ॥

एतत्स्वधर्मार्पणमनुष्ठातुं कर्तुमनुष्ठानाशक्तत्वान्न शक्तोऽसि तदा कुरु ।  
कर्तव्यमेवाऽऽह—प्रयत्नत इति । पुण्यापुण्यमिश्राणां फलत्यागमाह—  
अहमस्य कर्ता फलभोक्तेत्यभिमानं प्रयत्नतो बुद्धिपूर्वं त्यक्त्वा तेनैव  
कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानादेकतमोऽप्याह । (?) तथा चायं भावनाप्रकारः  
शास्त्रे दर्शितः—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।

केनापि देवेन हृदि स्थितेन

यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ इति ॥ १३ ॥

अकर्तृत्वाभोक्तृत्वाभिमानावृत्त्या किं स्यात्तदाह—

श्रेयसी बुद्धिरावृत्तेस्ततो ध्यानं वरं मतम् ।

ततोऽखिलपरित्यागस्ततः शान्तिर्गरीयसी ॥ १४ ॥

आवृत्ते अ(र)कर्तृत्वाद्यनुसंधानापेक्षया बुद्धिः, अकर्तृत्वाहमभोक्तृत्वाहमिति तत्फलभूता बुद्धिर्निश्चयात्मिका चेतोवृत्तिः श्रेयसी प्रशस्ता, तदपेक्षया ध्यानं व्यक्तेऽव्यक्ते वा गणपतिस्वरूपे चेतसोऽवस्थापनं वरं श्रेष्ठं मतं मम । ततोऽपि ध्यानादपि अखिलपरित्यागः, अनादिभेदवासनादुपसवमानस्य(?) सर्वस्यास्मितान्तरय द्वैतस्य परित्यागः श्रेयान्कथं परित्यागस्य श्रेयस्त्वमत आह—ततः शान्तिर्गरीयसी । परित्यागाद्या शान्तिर्निर्विकल्पे प्रतीच्यवास्थितिः सा गरीयसी सद्यः कैवल्यहेतुत्वात्सत्यलोकप्राप्त्यपेक्षया गुरुतेत्यर्थः ॥ १४ ॥

अस्यैव कैवल्यस्य साधनान्याह—

निरहंमता बुद्धिरद्वेषः करुणा समः ।

लाभालाभे सुखे दुःखे मानामाने स मे प्रियः ॥ १५ ॥

निरहंमता निरहंता गर्वराहित्यं, निर्ममता, इदं ममेतिबुद्धिराहित्यं, बुद्धिरुक्तविषये निश्चयात्मकं ज्ञानम् । अद्वेषो द्वेषराहित्यं, करुणा प्रसिद्धा समः शत्रुमित्रोदासीनेषु तुल्यबुद्धिः । यो लाभालाभे समः सुखे दुःखे समो मानापमाने समः स मे प्रियः ॥ १५ ॥

तथा—

रिपौ मित्रे च गर्हायां स्तुतौ शोके समः समुत् ।

मौनी निश्चलधीभक्तिरसङ्गः स च मे प्रियः ॥ १६ ॥

यं वीक्ष्य न भयं याति जनस्तस्मान्न च स्वयम् ।

उद्वेगभीकोपबुद्धिरहितो यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

\* रिपौ मित्रे प्रसिद्धे गर्हायां(?) स्तुतिः प्रसिद्धा । एतेषु द्वंद्वेषु समः शोकेऽपि समुत्, पुत्रवित्ते नाशादिना ये प्राप्तेऽपि मम बन्धकारणं नष्टमिति हर्षयुक्तः । (?)मौनी ध्याननिष्ठः । नियतवाग्वा, अत एव निश्चलधीः, मयि स्थिरबुद्धिः । मयि स्थिरभक्तिश्च + स्थिरधीभक्तिरित्येकपदम् ।

\* अत्रद्विवचनान्तेन निर्देशः सम्यक् । + निश्चलधीभक्तिरिति वक्तुं युक्तम् ।

ईदृशो यः स मे प्रियः । एतैः साधनैर्युक्तो मां प्राप्नुमर्हतीति भावः  
॥ १६ ॥ १७ ॥

इममेव साधनगणं स्तौति-

संशीलयति यश्चैनमुपदेशं मया कृतम् ।

स वन्द्यः सर्वलोकेषु मुक्तात्मा मे प्रियः सदा ॥ १८ ॥

एनमुपदेशं निरहंतेत्यादिनोक्तसाधनकलापं यः संशीलयति सम्य-  
गावर्तयति स वन्द्य इत्यादि तत्फलमुक्तं तत्रापि वन्द्यत्वमवान्तरफलं,  
स्पष्टः पदानामर्थः ॥ १८ ॥

किंच-

अनिष्टाप्तौ च न द्वेष्टि इष्टप्राप्तौ न तुष्यति ।

क्षेत्रतज्ज्ञौ च यो वेत्ति स मे प्रियतमो भवेत् ॥ १९ ॥

अनिष्टाप्तौ हेमन्ते प्रातःस्नानादिप्राप्तौ न द्वेष्टि, इष्टप्राप्तौ निदाधे  
मध्याह्नस्नानादिप्राप्तौ न तुष्यति । क्षेत्रं वक्ष्यमाणलक्षणं तज्ज्ञः क्षेत्रज्ञः ।  
तावुभौ बाध्याबाध्यत्वेन यो वेत्ति स मे प्रियतमो भवेत् । मदनन्यत्वा-  
दिति भावः ॥ १९ ॥

यच्छ्रीगणेशेनोपक्षिप्तं क्षेत्रादि तज्जिज्ञासुर्वरेण्य उवाच-

किं क्षेत्रं कश्च तद्वेत्ति किं तज्ज्ञानं गजानन ।

एतदाचक्ष्व मह्यं त्वं पृच्छते करुणाम्बुधे ॥ २० ॥

अस्योत्तरं गजानन उवाच त्रिभिः-

पञ्च भूतानि तन्मात्राः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।

अहंकारो मनो बुद्धिः पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च ॥ २१ ॥

पञ्च भूतानि, आकाशवाय्वग्निसलिलपृथिव्याख्यानि पञ्चीकृतानि  
स्थूलशरीरारम्भकाणि तान्यप्यधिभौतिकातिवाहिकभेदेन द्विविधानि,  
शुष्कार्द्रमृत्पिण्डोपमानि । तत्राऽऽद्ये जन्मवृद्धिक्षयविनाशवन्त्यस्मदादि-  
शरीराण्यारभ्यन्त आतिवाहिकैस्तु देवानां शरीराणि पामरशरीराणि  
चाऽऽरभ्यन्ते । तन्मात्रा वासनामयानि, पञ्च पञ्च भूतानि येषां विकृतिः  
पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमनोन्तमपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्ग भूत-

साधनमित्युक्तं लिङ्गशरीरं स्वाप्नः प्रपञ्चश्च । अहंकारोऽपि बुद्धावेवा-  
न्तर्भवति, इतरलिङ्गशरीर एषान्तर्भवति ॥ २१ ॥

किंच—

इच्छाऽव्यक्तं धृतिद्वेषौ सुखदुःखे तथैव च ।

चेतनासहितश्चायं समूहः क्षेत्र मुच्यते ॥ २२ ॥

इच्छा, इदं मे भूयादित्यभिलाषः । अव्यक्तं धर्माधर्मौ सदसदुद्भवफल-  
हेतू धृतिर्वैयं चितनिग्रहादौ रणादौ चोत्साहानयसादः । द्वेषः प्रसिद्धः ।  
सुखदुःखे प्रसिद्धे चेतना चिदाभासगर्भिणी चित्तवृत्तिः । तथा सहि-  
तोऽयं संघातो विंशतिगणः क्षेत्रं संसारसंकटे क्षेपणात्तत्स्थानाच्च  
क्षेत्रमित्युच्यते । अनेन हि दुष्प्रवृत्तेन चिदाभासरूपाः प्राणिनः संसरन्ति ।  
सुप्रवृत्तेन तेन धर्ममोक्षौ साधयन्ति ॥ २२ ॥

क्षेत्रमुक्त्वा क्षेत्रज्ञमाह—

तज्ज्ञं त्वं विद्धि मां भूप सर्वान्तर्यामिणं विभुम् ।

अयं समूहोऽहं चापि यज्ज्ञाने विषयो नृप ॥ २३ ॥

तस्य क्षेत्रस्य ज्ञातारं क्षेत्रज्ञमीश्वरं त्वं जीवो विद्धि जानीहि । हे भूप  
क्षेत्रज्ञमज्ञात्वा भूमिं पालयतो भूपस्यावश्यं दोषा जनपदकृता अभिभवं  
कुर्वन्ति । क्षेत्रज्ञं तु जनकमिवामी नाभिभवन्तीति संबोधनाभिप्रायः ।  
ननु चेतनायन्तो जीवा एव स्वं स्वं संघातं प्रकाशयन्ति कुतस्तवासङ्गस्य  
तत्क्षेत्रज्ञत्वमित्याशङ्क्याऽऽह सर्वान्तर्यामिणं विभुमिति । जीवो हि  
ततदंशाभिमानी खद्योतवत् तमेव क्षेत्रभोगं प्रकाशयति । अहं तु  
संघाताद्विविक्तत्वात्सूर्यवत्सर्वसंघातं विभुत्वाच्च युगपदवभासयामि तथा  
च श्रुतिः—“य आकाशो तिष्ठन्नाकाशादनरो यमाकाशो न वेद  
यस्याऽऽकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमत्येष त आत्माऽन्तर्याम्य-  
सुतः” ( बृह० ३।७।१२ ) इत्यादिना य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः  
सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्नित्यादिना च जडाजडकृत्प्रपञ्चावभासकत्वं  
मम श्रुतम् । अतो यथा स्वस्थः सूर्यः स्वप्रतिबिम्बानि तदाधारानुपाधी-  
श्वैक एवावभासयति एवं महदाकाशादीनुपाधीस्तद्गतांश्चिदाभासांश्च सर्वा-  
न्युगपदन्तर्यामित्वेनाधिष्ठाय नियमयामि । अयं भावः—दाशतय्यां श्रूयते “न

स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः । अस्ति ज्याया-  
 न्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ” (ऋ० अ० ५।६।८) । अत्रेन्द्र-  
 वाय्वग्नीन्सर्वासुरजयेनेमान्गर्विताऽज्ञात्वा तेषु प्रथममेव ज्ञातान्तर्यामितत्वं  
 इन्द्र इतरावुपदिशति हेऽअग्ने हे वायो येनास्माभिरसुरा जिताः स दक्षः  
 स्वो न भवति तद्बलमस्मदीयं न, अतोऽस्माभिरस्माकमेवायं विजयोऽ-  
 स्माकमेवायं विजय इति न भ्रमितव्यं, किं तर्हि वरुणध्रुतिः सा वरु-  
 णस्य भोगमोक्षकामैर्वरणीयस्य हैमवत्या उमायाः पत्युर्महेश्वरस्यास्यैव  
 ध्रुतिर्यै तत् । वरुणध्रुतिरित्येकमेव पदं पदकारा विहृत्य पठन्ति ।  
 जीवानामन्तर्यामित्वं तु सुरादिस्थानीयम् । तथा हि कश्चित्सुरां पीत्वा  
 मतो मन्युना क्रोधेनानधो विभीतकः कलिवृक्षस्तेन कलिरेव लक्ष्यते  
 स हि पुरुषमाक्रम्य सत्यमनृती करोति अनृतं च ऋती करोति एवम्,  
 अचित्तिरज्ञानमपि त एते चत्वारः पुरुषमाक्राम्याकार्यं प्रवर्तयन्ति । तत्र  
 ज्यायानीश्वरः कनीयसो हीनस्य जीवस्योपारे समीपेऽन्तर्यामित्वेनास्ति ।  
 स एव तस्य नियम्यस्य जीवस्य स्वप्नश्चन स्वप्न इवानृतस्येदनृतस्यैवेष्टा-  
 निष्टस्य प्रयोता प्रकर्षेण संयोजयिता वियोजयिता च । अयं भावः-यथौ-  
 पधीनां बीजानि तत्तदङ्कुरोत्पत्तावसाधारणानि कारणानि पर्जन्यस्तु  
 साधारणं कारणम् । न च तद्भावे बीजान्यङ्कुराञ्जनयितुं शक्नुवन्ति ।  
 अतोऽन्तर्यामिणो मुख्यं नियन्तृत्वं जीवाभितवासनासु अप्रवृत्त्याऽवान्तर-  
 भेदकारणानीति । अत्रान्तर्यामिपरेऽपि महावाक्ये, अनृतस्य प्रयोतेतिप्र-  
 पञ्चस्यानृतत्वमपूर्वत्वादुपरिधारणं च विधीयते । यथा मृताग्निहोत्रे “अध-  
 स्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति ” इति विज्ञायत  
 इत्यधोधारणप्रसङ्गेऽप्युपरि धारणमपि देवेऽग्निहोत्रे विधीयते । तथा च  
 पारमार्थसूत्रम्-“ विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात् । ” ( जै० अ० ३। पा० ४।  
 सू० १५ ) अयमाकाशादीनां जडानां तत्क्षेत्राभिमानिनां चिदाभा-  
 सानां च समूहः । अहं चान्तर्यामी तृतीयः । यस्य क्षेत्रज्ञस्य च तुर्यस्य  
 ज्ञाने प्रकाशे विषयौ प्रकाशनीयौ समूहान्तर्यामिणौ । स क्षेत्रज्ञोऽहमेव ।  
 तथा श्वेताश्वतरा आमनन्ति-“ भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं  
 प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत् । ” ( अ० १।२२ । ) इति । भोक्ता चिदाभासो  
 भोग्यं जडं प्रेरितारं परमेश्वरमेतन्नित्यं मत्वा ज्ञात्वा मे मह्यम् ।  
 आचार्ये ब्रह्मेत्येवं प्रोक्तं त्रिविधं तिस्रो विधाः प्रकारा यस्य तन्निविधम् ।

तथा च श्रुतिः—“एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य  
स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः ” ( छा०८।३।४ ) इति एक-  
स्यैव परज्योतिःशब्दितस्योत्तमस्य पुरुषस्य शरीरशब्दितजडभावं संप्र-  
सादशब्दितचिदाभासभावस्वरूपशब्दितेश्वरभावं च दर्शयन्ति ॥ २३ ॥

भोक्तृमोग्येश्वराणां प्रकाशकं यत्तुरीयं तदधिगमसाधनान्याह द्वाभ्याम्—

आर्जवं गुरुशुश्रूषा विरक्तिश्चेन्द्रियार्थतः ।

शौचं क्षान्तिरदम्भश्च जन्मादिदोषवीक्षणम् ॥ २४ ॥

समदृष्टिर्दृढा भक्तिरेकान्तित्वं शमो दमः ।

एतैर्यच्च युतं ज्ञानं तज्ज्ञानं विद्धि बाहुज ॥ २५ ॥

आर्जवमकौटिल्यम् । गुरुशुश्रूषा मातृपित्राचार्याग्नीनां सेवा । इन्द्रि-  
यार्थत इन्द्रियगोचरेषु दिव्यगन्धरसादेर्विरक्तिरभिलाषाभावः । शौचं  
बाह्यं मृज्जलादिना । आन्तरं भावशुद्धिः । क्षान्तिः क्रोधानुत्पत्तिः ।  
अदम्भो धर्माप्रकाशनम् । जन्मादिदोषवीक्षणम्, जन्मजरामरणान्ध्यबा-  
धिर्यादिषु दोषाणां विवशत्वादीनामनुसंधानम् । समदृष्टिः शत्रुमित्रमा-  
नापमानसुखदुःखादिषु प्राप्तेष्वपि बुद्धेरवैषम्यं, दृढा भक्तिर्देवतादौ ।  
एकान्तित्वमेकान्तशीलता । शमोऽन्तरिन्द्रियनिग्रहो दमो बाह्येन्द्रिय-  
निग्रहः । एतैराजवादिसाधनैर्विद्वलक्षणमुख्यभूतैश्च यद्युतं ज्ञानं तदेव  
ज्ञानं परोक्षज्ञानिनस्तु दृढाकृष्टाः(?) । अपरोक्षज्ञानिनः स्वतः सिद्धा  
इत्यर्थः । हे बाहुज क्षत्रिय ॥ २४ ॥ २५ ॥

ज्ञानसाधनमुक्त्वा ज्ञेयमाह—

तज्ज्ञानविषयं राजन्ब्रवीमि ते शृणुष्व मे ।

यज्ज्ञात्वैति च निर्वाणं मुक्त्वा संसृतिसागरम् ॥ २६ ॥

तज्ज्ञानविषयं तस्य ज्ञानसाधनकलापस्य विषयं प्रकाश्यं ब्रह्म हे  
राजंस्ते तुभ्यं ब्रवीमि । एवंविषये मे मद्वाक्याच्छृणुष्व यद्ब्रह्म ज्ञात्वा  
संसृतिसागरं मुक्त्वा तीर्त्वा निर्वाणं कैवल्यमेति प्राप्नोति ॥ २६ ॥

यद्व्रवीमीत्युक्तं तदेवाऽऽह—

१ क. 'ते । इत्यु' । ख. 'ते । इत्यनुत' । २ ख. 'यतीतिभावः । भो' । ३ ख. 'द्वाक्यं  
शृणु' । ४ घ. 'ति चकाराज्जीवन्मुक्तिमुखं च प्राप्नोति । यं' ।



यदनादीन्द्रियेर्हीनं गुणभुगुणवर्जितम् ।

अव्यक्तं सदसद्भिन्नमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥ २७ ॥

यज्ज्ञेयं वस्तु अनादि आदिः कारणं तद्रहितं सर्वस्याऽऽदिभूतमित्यर्थः । “सदेव सौम्येदमग्र असीत्” ( छा० ६।२।१ ) इति श्रुतेः । इन्द्रियैः पाणिपादादिभिर्हीनमपि गुणान्विषयान्भुङ्क्ते । तथा च श्रुतिः “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्” ( श्वे० ३।१९ ) इति । गुणवर्जितम्\* । “अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्यैनं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते” ( क० ३ । १५ ) इति । सदसद्भिन्नं सत्कार्यमसत्कारणं ताभ्यां भिन्नं तदेतद्ब्रह्म “अपूर्वं मनपरम्” । ( बृ० २।५।१९ ) इत्यादिश्रुतेः । इन्द्रियार्थावभासकमिन्द्रियार्थानां शब्दादीनामवभासकम् । “येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानति” ( ऐ० ५।१ ) इति श्रुतेः ॥ २७ ॥

किंच—

विश्वभृच्चाखिलव्यापि एकं नानेव भासते ।

बाह्याभ्यन्तरतः पूर्णमसङ्गं तमसः परम् ॥ २८ ॥

विश्वभृच्च, चकारः पूर्वोक्तविशेषणसमुच्चयार्थः । विश्वं विभर्तीति विश्वभृच्चराचराविधारकं तत्किं “ब्रह्मन्ह विश्वा भूतानि नावीवान्तः समाहितः” इति श्रुतेर्नैकावदाधारत्वमात्रं नेत्याह—अखिलव्यापि सर्वोपादानत्वात्सर्वकार्यव्यापीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः “सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति” । ( छा० ३।१।४।१ ) इति शब्दो हेत्वर्थः । यस्मात्सर्वमिदं ब्रह्मण्येव जायते ब्रह्मण्येव च लीयते ब्रह्मण्येवानिति चेष्टते च पृथिव्यामिव चतुर्विधभूतग्रामः । तस्मात्सर्वमिदं ब्रह्मैवेत्यर्थः । एकं नानेव भासते वस्तुत एकमपि नानेव भासते । अध्यात्माधिदैवाधिभूतभेदेन नानेव भासते न तु नाना । तथा च श्रुतिः—“यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति” । ( बृ० २।४।१४ ) इति । इवशब्देन द्वैतस्य मिथ्यात्वं दर्शयति । “यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्केन कं पश्येत्” ( बृ०

\* इत उत्तरमयं ग्रन्थो घ. पुस्तके । तार्किकात्मवज्ज्ञानेच्छादिगुणहीनं विवेकरसत्त्वात् । अव्यक्त-रूपादिराहि स्यात् । तथा च श्रुतिः । “अशब्दमस्वर्गमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत् । इति ।

२।४।१४) इत्यात्मैकत्वावगतौ दर्शनादिव्यवहाराभावं दर्शयति । बाह्याभ्यन्तरतः पूर्णं “ स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरेऽयमात्मा कृत्स्नः प्रज्ञानघनः ” ( बृ० ४।५।१३ ) इति श्रुतेर्बहिरन्तश्च सैन्धवघनवदेकरसत्वेन पूर्णम् । अत एव द्वितीयाभावादसङ्गं यतस्तमसः परं तमसो ह्यसङ्गस्य ससङ्गत्वमेकरसस्य नानारसत्वं मरुमरीचिकानामिव तुङ्गतर्ङ्गभगमासाशालिमहासरःकल्पत्वमसदपि भासते तद्वत्(?) । तथा च श्रुतिः—“ नेह नानाऽस्ति किञ्चन ” ( बृ० ४।४।१९ ) इति मायामात्रमिदं द्वैतमिति च ॥ २८ ॥

किञ्च—

दुर्ज्ञेयं चातिसूक्ष्मत्वादीप्तानामपि भासकम् ।

ज्ञेयमेतादृशं विद्धि ज्ञानगम्यं पुरातनम् ॥ २९ ॥

दुर्ज्ञेयमतिसूक्ष्मत्वाद्धेतोर्दुर्ज्ञेयम् । अयमर्थः—यद्यप्याकाशो रूपस्पर्शादिहीनत्वादतिसूक्ष्मस्तथाऽप्यवकाशप्रदानादेकरसत्वात्साक्षिभास्यः । आत्मा तु सर्वसाक्षित्वादेव न साक्षिभास्यः । अनवस्थापत्तेः । तर्ह्यतस्तत्प्रत्यये हेतुमाह दीप्तानामपि भासकं सूर्यचन्द्रादीनां चक्षुरादीनां च दीप्तिमतामपि भासकम् । तथा च श्रुतिः—“ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ” ( श्वे० ६।१४ ) इति । एतज्ज्ञेयं ब्रह्मेतादृशतादीत्यादिविशेषणोक्त रूपं विद्धि जानीहि । ज्ञानगम्यं ज्ञानमहं ब्रह्मास्मीतिवाक्यजा ब्रह्माकाराऽन्तःकरणवृत्तिस्तया सर्वद्वैतोपरमपूर्वकं कनकवत्स्वयमप्युपरतया गम्यम् । न चैवंविधं ब्रह्मोपासनाप्राप्यमिति वक्तुं विशिनष्टि—पुरातनमिति । नित्यसिद्धमित्यर्थः ॥ २९ ॥

एवं श्लोकत्रयोक्तस्य ब्रह्मणः प्रत्यगभिन्नत्वमाह—

एतदेव परं ब्रह्म ज्ञेयमात्मा परोऽव्ययः ।

गुणान्प्रकृतिजान्भुङ्क्ते पुरुषः प्रकृतेः परः ॥ ३० ॥

एतदुक्तविधं ब्रह्मैव परं ज्ञेयम् । उपास्यस्वरूपं तु तत्प्रत्ययवत्त्वाद्वरं ज्ञेयम् । एतदेव ब्रह्माऽऽत्माऽस्मदादीनां जीवानामिति

१ क. ख. 'हारभा' । २ ख 'तर्गर्भमा' । ३ क. ख. 'लिमदारसःक' । ४ ख. 'साक्षीभा' । ५ ख. 'येनाऽऽह' । ६ ख. 'येऽतमाह' । ६ ख. 'कं कृताविवेकम्' । ७ घ. 'करजोव' ।

शेषः । कोऽसावात्मेत्यत आह—पर इति । अन्नमयप्राणमयमनो-  
मयविज्ञानमयानन्दमयेभ्यः पञ्चभ्यः परः षष्ठः । अस्मादव्ययः पूर्वं  
पञ्च सोपाधिका उपाधिक्रियया विक्रियन्ते । अयं तु निरुपाधित्वा-  
दव्ययोऽविक्रियः । ततश्चोभयोस्तत्त्वंपदार्थलक्ष्ययोर्लक्षणभेदाभाव इति  
भावः । एवं तर्हि ज्ञाततत्त्वानामपि कथं कर्तृत्वाद्यवभास आत्मनीत्यत  
आह—गुणानिति । प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका तज्जा गुणा अपि शब्द-  
स्पर्शादयो गुणत्रयात्मानस्तान्भुङ्क्ते, अनुभवति कथं प्रकृतेर्मूलमायातः  
परोऽप्यसङ्गोऽपि पुरुषः पुरि देहादिपञ्चके वसतीति पुरुषः । यथा  
निरवयवोऽप्याकाश उदकशरावे वसन्नुदककम्पादिना कम्पते तद्वत् ।  
न त्वसौ महाकाशः । असतश्च प्रतिबिम्बाकाशस्ततो विच्छिन्नदेशः ।  
तस्मिन्कम्पमाने महाकाशे कम्पप्रसक्तिरेव नास्ति । अतः कथं शरी-  
रवासमात्रेण ततो बहिर्भूतस्याऽऽत्मनो गुणभोक्तृत्वमिति चेदुच्यते—  
न तावद्विम्बप्रतिबिम्बयोर्विच्छिन्नदेशदेशित्वमस्ति जलाद्युपाधिं प्राप्य  
तत्रस्थेन सौरेण ज्योतिषा बलवता कति स्रोतः प्रवर्तिता बिम्बमेव  
गृह्णन्ति पूर्वप्रवृत्तिसंस्कारात्तु स्वदेशस्थमपि सुखमखण्डधियाधिदेशस्थ-  
मिव गृह्णन्ति । अतो वस्तुत उपाधिसंसर्गाभावेऽपि तत्सांनिध्यमात्राद्-  
विक्रियमाणोऽपि विक्रियमाण इव भासतेऽतो मूढदृष्ट्यैव प्रकृतिजा-  
न्गुणान्पुरुषो भुङ्क्त इति न तु शुद्धदृष्ट्येति गृहाण ॥ ३० ॥

इमामेवाविद्यामुपजीव्य प्रकृतिः पुरुषं बध्नातीत्याह—

गुणैस्त्रिभिरियं देहे बध्नाति पुरुषं दृढम् ।

यदा प्रकाशः शान्तिश्च वृद्धे सत्त्वं तदाऽधिकम् ॥ ३१ ॥

इयं प्रकृतिस्त्रिभिर्गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः पुरुषं देहाभिमानिनं देहे  
स्थूणानां पशुभिरिव देहैः पाशैर्बध्नाति । दृढमित्यनेन पूर्वपूर्ववासनयो-  
त्तरोत्तरशरीरप्राप्तेरविच्छेदाद्दुरुच्छेद्यत्वं बन्धस्य दर्शितम् । तत्रापि रज-  
स्तमसी बन्धहेतू । सत्त्वं च बन्धच्छेदकमिति विजिज्ञापयिषया गुणका-  
र्याणि विभजते यदेत्यादिना । यदा यस्मिन्काले प्रकाशः सर्ववस्तुविष-  
यको याथात्म्यसंबोधः शान्तिः सत्यपि क्षेमहेतौ चित्तस्याविक्रियता ।  
एते उभे वृद्धे वृद्धिं प्राप्नुतस्तदा सत्त्वं सत्त्वगुणाधिकं विवृद्धमिति  
विद्यात् ॥ ३१ ॥

रजस्तमसोः कार्याणि विभजते-

लोभोऽशमः स्पृहाऽरम्भः कर्मणां रजसो गुणः ।

मोहोऽप्रवृत्तिश्चाज्ञानं प्रमादस्तमसो गुणैः ॥ ३२ ॥

लोभो धनादौ गर्वः । अशमो लब्धेऽप्यर्थे तृप्त्यभावः । स्पृहा-  
धिकाभिलाषः । कर्मणां गृहक्षेत्रादीनामारम्भः । अयं रजसो रजो-  
गुणस्य परिणामः । मोहो धियामप्रवृत्तिर्धर्मादौ । अज्ञानं वस्तुतत्त्वा-  
प्रकाशः । प्रमादो विस्मरणम् । एते तमोगुणस्य परिणामाः ॥ ३२ ॥

त्रयाणामपि मुख्यकार्याण्याह-

सत्त्वाधिकः सुखं ज्ञानं कर्मसङ्गं रजोधिकः ।

तमोधिकश्च लभते निद्राऽऽलस्यं सुखेतरत् ॥ ३३ ॥

सत्त्वाधिकः सत्त्वविवृद्धौ सुखं ज्ञानं च वर्धते, रजोवृद्धौ कर्मसङ्गश्च  
वर्धते । तमसो वृद्धौ निद्रामालस्यं दुःखं च मौढ्याख्यं वर्धते ॥ ३३ ॥

गुणकार्यविभागस्य फलमाह-

एषु त्रिषु प्रवृद्धेषु मुक्तिसंसृतिदुर्गतीः ।

प्रयान्ति मानवा राजंस्तस्मात्सत्त्वयुतो भव ॥ ३४ ॥

सत्त्वे प्रवृद्धे मानवा मुक्तिं प्रयान्ति । रजसि प्रवृद्धे संसृतिं प्रयान्ति ।  
तमसि प्रवृद्धे दुर्गतिं प्रयान्ति मानवाः । यस्मादेवं तस्माद्धे राजन्  
रजस्तमसी विहाय मोक्षार्थी सत्त्वयुतो भव सत्त्वप्रवृद्धिं कुर्वीते-  
त्यर्थः । तेन निरतिशयसत्त्वोत्कर्षे मां ज्ञात्वा मुक्तो भविष्यसीति  
भावः ॥ ३४ ॥

सत्त्वविवृद्धिहेतुमाह-

ततश्च सर्वभावेन भज त्वं मां नरेश्वर ।

भक्त्या चाव्यभिचारिण्या सर्वत्रैव च संस्थितम् ॥ ३५ ॥

यस्मात्सत्त्ववृद्धयधीना मुक्तिस्तत एव हेतोः सत्त्वविवृद्धयर्थं त्वं  
सर्वेषु भूतेषु स्थितं मां भज सेवस्व । कथमव्यभिचारिण्या भक्त्या  
सर्वभावेन च सर्वथाभावो ब्रह्मैवेदं सर्वमितिबुद्धिः । अव्यभिचारिणी

भक्तिर्जन्तुमात्र आत्मौपम्यदर्शनम् । एतेन साधनेन हे नरेश्वर सर्वजग-  
त्पालनाधिकारिञ्जगतः पालनं तदेव मम भजनं तैर्नैव सत्त्वविवृद्धौ  
यथावत्प्राप्तिरपि सिध्यतीति भावः ॥ ३५ ॥

उक्तविधभजनाशक्तं प्रति भजनप्रकारान्तरमाह-

अग्नौ सूर्ये तथा सोमे यच्च तारासु संस्थितम् ।

विदुषि ब्राह्मणे तेजो विद्धि तन्मामकं नृप ॥ ३६ ॥

अग्नौ ज्ञानार्थप्रकाशनशक्तिः सा चाग्न्यादिषु लोकप्रसिद्धा, तारासु  
शुक्रबृहस्पत्यादिषु, अध्यात्मं त्वग्न्यनुगृहीतायां वाचि शब्दार्थप्रकाशन-  
शक्तिः । सूर्यानुगृहीते चक्षुषि सोमानुगृहीते मनसि बृहस्पत्याद्यनुगृहीते  
बुद्ध्यादौ विदुषि ब्रह्मनिष्ठे त्रैकालिकार्थप्रकाशनशक्तिः । तत्सर्वं तेजो  
मामकं मदीयं विद्धि जानीहि । मदनुग्रहादेवैनमर्थं प्रकाशयति न  
स्वतो जडत्वादिति भावः ॥ ३६ ॥

एवं च जडानां सांख्यवञ्चितः पृथक्सत्त्वे प्राप्ते तेषामपि स्वाभिन्न-  
त्वमाह-

अहमेवाखिलं विश्वं सृजामि विसृजामि च ।

ओषधीस्तेजसा सर्वा विश्वं चाऽऽप्याययाम्यहम् ॥ ३७ ॥

यथा चतुर्विधभूतग्राम आत्मनः सृजति, उत्पादयति । विसृजति,  
आत्मन्येवान्तर्हितं करोति । स्थितिकाल आत्मने चाऽऽप्याययति । एवमह-  
मिदं सवियदादि सृजामि विसृजाऽप्याप्याययामि च । ओषधीपदेनान्नं  
भोज्यमुच्यते । विश्वमिति भोक्तृवर्ग उच्यते । तेन जडमपि मत्तः पृथ-  
ङ्नास्तीति दर्शितम् ॥ ३७ ॥

संसारे चेतनरूपोऽप्यहमेवेत्याह-

सर्वेन्द्रियाण्यधिष्ठाय जाठरं च धनंजयम् ।

भुनक्ति चाखिलान्भोगान्पुण्यपापविवर्जितः ॥ ३८ ॥

सर्वाणीन्द्रियाणि ज्ञानकरणानि श्रोत्रत्वग्जिह्वाघ्राणानि कर्मकरणानि  
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि सर्वेषामनुग्राहकं मनश्चेतनया जाठरं च तत्त-

१ ख. 'पम्येन द' । २ ख. 'गतिं सि' । ३ ख. घ. 'यां बाधिश' । ४ क. ख.  
'क्तिः । गत्त' । ५ ख. 'स्वतो ज्ञानम्' । ६ क. 'कसतोऽप्रा' । ७ क. 'रं धत्त' । ८ ख.  
'न' ।

दिन्द्रिया ( \* नुग्राहकदेवतारूपेणाधिष्ठाय, अनुगृह्य सर्वान्विषयाञ्छ-  
ब्दादीतन्वन्तानहमेव भुनक्ति पालयामि भुञ्जे इति वा । एवं भुञ्जानोऽपि  
पुण्यपापा— ) भ्यां भोगफलाभ्यां सुखदुःखाभ्यां च विवर्जितोऽस्पृष्टः ।  
ननु एकस्यैव कथं भोक्तृत्वं चेदुच्यते—यथा दारुव्यापिनोऽग्नेर्दारु-  
ग्धत्वं मन्थनदेश एव दृश्यत एवं सर्वव्यापकस्व ममाभिर्व्यक्तदेहेन्द्रि-  
यादितादात्म्यस्य भोक्तृत्वं न स्वत इति गृहाण ॥ ३८ ॥

तत्तदिन्द्रियानुग्राहकदेवतारूपस्यापि ममताभोक्तृत्वमस्तीत्याशये-  
नाऽऽह—

अहं विष्णुश्च रुद्रश्च ब्रह्मा गौरी गणेश्वरः ।

इन्द्राद्या लोकपालाश्च ममैवांशसमुद्भवाः ॥ ३९ ॥

ब्रह्मा सूर्यः “सैषा त्रय्येव विद्या तपः” (महाना० २१२) इति श्रुतेर्वैद्वज्रया-  
त्मत्वाद्ब्रह्मशब्दाभिधेयः । तेनाहं महागणपतिः शुद्धं ब्रह्मैव सन् । विष्णु-  
शब्दितो मायावी भवामि मायायाः प्रथमं कार्यमहंकारस्तदधिष्ठाता रुद्रश्च  
भवामि । एतावानन्दमयविज्ञानमयौ कोशावुक्तौ ब्रह्मा मनोमयः कोशः ।  
“तस्य यजुरेव शिरः । ऋक्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा,  
अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा ” (तै० २।३।१) इति वेदमयत्वश्रवणाद्ब्र-  
ह्मशब्दवाच्यत्वं गौरीतिक्रियाशक्तिमान्प्राणमय उच्यते, गणेश्वरो गणः  
पाञ्चभौतिको देहः पूर्वैः पञ्चभिरनुप्रविष्टस्य तस्येश्वरोऽभिमानी मनु-  
ष्योऽहं ब्राह्मणोऽहं कर्ता भोक्ताऽहमित्यभिमानमयः कोशः प्रत्येकं समष्टि-  
व्यष्टिरूपेण भिन्नैः पञ्चभिः कोशैरात्मानं व्युह्य स्थित इति पर्वार्धार्थः ।  
इन्द्राद्या इत्यनेन याः प्रतीचोऽन्यचेतनदेवताः । प्रासिद्धानामप्यहमेवेति सर्व-  
मात्मानात्मरूपं द्वैतं चिन्मात्रादनन्यदेवेत्यनुसंधेयमिति भावः । तथा च  
वृद्धवचनम्—बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं शृणुत संग्रहमद्वयशासनम् ।  
सकलवाङ्मनसा गतिं सागतिताभिः (?) सकलवाङ्मनसंव्यवहारभाक् ॥  
इति ॥ ३९ ॥

एवं कृत्स्नस्य नामरूपस्य चिन्मात्रत्वे स्थिते यदेव रूपं येन भक्त्यो-  
पास्यते तेन स्वरूपेण तस्मै स्वमात्मानं दर्शयामीत्याह—

\* धनुश्चिह्नान्तर्गतग्रन्थो. घ. पुस्तके वर्तते ।

येन येन हि रूपेण जनो मां पर्युपासते ।

तथा तथा दर्शयामि तस्मै रूपं सुभक्तितः ॥ ४० ॥

तस्मै तेभ्यः सुभक्तितो मक्तेः सुष्ठुत्वं सात्त्विकत्वं, रजस्तमोमयीः भक्ति-  
स्तं तं विषयमेव गोचरयति मां तु सात्त्विक्यैक्येव भक्तिर्गोचरयतीति  
भावः । स्पष्टार्थाऽक्षरयोजना ॥ ४० ॥

अध्यायार्थमुपसंहरति—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं मयेरितम् ।

अखिलं भूपते सम्यगुपपन्नाय पृच्छते ॥ ४१ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्गणेशगीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृ-

तार्थशास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरे-

ण्यसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकयोगो नाम

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

हे भूपते तुभ्यमुपपन्नाय शरणागताय शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ४१ ॥

श्रीचातुर्धरभणितौ गणेशगीता-

टीकायां गणपतिभावदीपिकायाम् ।

गम्भीरप्रतप्तसदर्थदर्शिकाया-

मध्यायः खलु नवमः स्फुटाशयोऽभूत् ॥

इति श्रीमत्पद्माक्ष्यप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्दसू-

रिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां गण-

पतिभावदीपिकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

सुभक्तित इत्युत्तमभक्तेरात्मदर्शनार्थत्वमुक्तं तत्र विपक्षपरिहारार्थं  
दशमाध्यायमारंभते तत्र स्वयमेव करुणया गजानन उवाच—

दैव्यासुरी राक्षसी च प्रकृतिस्त्रिविधा नृणाम् ।

तासां फलानि चिह्नानि संक्षेपात्तेऽधुना ब्रुवे ॥ १ ॥

प्रकरोति कर्माणि यया सा प्रकृतिः । प्राक्भावयया संस्कारसंपत्ता  
च सात्त्विकी दैवी रजस्तमोमिश्रा प्रवृत्तिप्रधानाऽऽसुरी, सैव हिंसाप्रधाना  
राक्षसी । फलानि प्रयोजनानि चिह्नानि लक्षणानि ब्रुवे ब्रवीमि ॥ १ ॥

तत्र फलानि तावदाहार्येण—

आद्या संसाधयेन्मुक्तिं द्वे परे बन्धनं नृप ।

चिह्नं ब्रवीमि चाऽऽद्यायास्तन्मे निगदतः शृणु ॥ २ ॥

आद्या संसाधयेन्मुक्तिं द्वे परे बन्धनं नृप मोक्षार्थी, आद्यामेव दैवीं  
संपदमाश्रयेदित्यर्थः । आसुरी राक्षसी चेति द्वे संपदौ बन्धनहेतुत्वाच्च  
स्पृशेदित्याशयः । आद्याया लक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते । ऋणवतोऽपि  
शृण्वतिप्रेरणं सारभूतेऽस्मिन्वाक्येऽत्यन्तावाहितो भवेत्येवमर्थम् ॥ २ ॥

उक्तमेवाऽऽह—

तेजोऽभयमहिंसा च क्षमा शौचममानिता ।

अपैशुन्यं दयाऽक्रोधोऽचापल्यं धृतिरार्जवम् ॥

इत्यादिचिह्नमाद्याया आसुर्याः शृणु सांप्रतम् ॥ ३ ॥

तेजः, संकष्टेष्वप्यदीनत्वम् । अभयं भयहेतुषु संग्रामादिष्वात्मोच्छेदबु-  
द्धिराहित्यम् । अहिंसा कायवाङ्मनोभिः परपीडाया अकरणं चकारा-  
त्तद्विपरीतं कायवाङ्मनोभिः परसुखोत्पादनं, क्षमा सत्यपि क्षोभहेतौ  
तदनुत्पादः । शौचं मृज्जलाभ्यां बाह्यं भावशुद्धिश्चेति द्विविधम्, अमा-  
निता, अहमेव महानित्यात्मसंभावितत्वरहित्यम् । अपैशुन्यं परापवाद-  
राहित्यम्, दया निरुपाधिपरदुःखप्रहाणेच्छा, अक्रोधः परानिष्टाकरणम् ।  
अचापल्यं पाणिपादचापल्यराहित्यं, धृतिः सात्त्विक्युत्साहानुत्पादः ।  
आर्जवमकौटिल्यमिति । आदिपदाद्गुरुशास्त्रादिसेवनम् । इदमाद्याया  
दैव्याः संपदश्चिह्नं लक्षणमुक्तमिति शेषः । सांप्रतमिदानीमासुर्याः संपदो  
लक्षणं मयोच्यमानं शृणु ॥ ३ ॥



तद्वेदाऽऽह-

अतिवादोऽभिमानश्च दर्पोऽज्ञानं सकोपता ।

एवमाद्यानि चिह्नानि आसुर्याः प्रकृतेर्नृप ॥ ४ ॥

एवमाद्यानि चिह्नानि । अतिवादः शब्देन स्वोत्कर्षाविष्करणं, अभिमानोऽहमेवास्मिँलोके महानस्मीतिबुद्धिः । दर्पो गर्वः । अज्ञानं विपरीतज्ञानं धर्मेऽप्यधर्मबुद्धिः । अधर्मे धर्मबुद्धिः । हितेष्वहितबुद्धिः । सकोपता क्रोधत्वं तेनासूयेर्ष्यामात्सर्यमित्यादीनां संग्रहः । आदिपदेन पण्डितादिषु तुच्छबुद्धिः । देवतादिषु श्रद्धादिराहित्यम् ॥ ४ ॥

राक्षसीं संपदमाह सार्धश्लोकपञ्चकेन-

निष्ठुरत्वं मदो मोहोऽहंकारो गर्व एव च ।

द्वेषो हिंसा दया क्रोध औद्धत्यं दुर्विनीतता ॥ ५ ॥

अभिचारिककर्तृत्वं क्रूरकर्मरतिस्तथा ।

अविश्वासः सतां वाक्येऽशुचित्वं कर्महीनता ॥ ६ ॥

निन्दकत्वं च वेदानां भक्तानामसुरद्विषाम् ।

मुनिश्रोत्रियविप्राणां तथा स्मृतिपुराणयोः ॥ ७ ॥

पाखण्डवाक्ये विश्वासः संगतिर्मलिनात्मनाम् ।

सदम्भकर्मकर्तृत्वं स्पृहा च परवस्तुषु ॥ ८ ॥

अशुचित्वमिति पदच्छेदः । मुनिर्ध्याननिष्ठः । श्रोत्रियः साङ्गवेदाध्यायी । विप्रः काव्यकर्ता, ऋषिर्विप्रः काव्येनेति मन्त्रवर्णनात् ॥ ८ ॥

अनेककामनावत्त्वं सर्वदाऽनृतभाषणम् ।

परोत्कर्षासहिष्णुत्वं परकृत्यपराहतिः ॥

इत्याद्या बहवश्चान्ये राक्षस्याः प्रकृतेर्गुणाः ॥ ९ ॥

अनेककामनावत्त्वं सर्वदाऽनृतभाषणम् । इत्याद्या आद्यपदेन दुराग्र-  
हादयो ग्राह्याः । अन्ये चालीकनिर्बन्धादयो महापातकोपपातका-  
दयः ॥ ९ ॥

राक्षसीं प्रकृतिं श्रिताः स्वर्गेऽपि ते वसन्तीत्याह-

पृथिव्यां स्वर्गलोके च परिवृत्य वसन्ति ते ।

मद्भक्तिरहिता लोका राक्षसीं प्रकृतिं श्रिताः ॥ १० ॥

परिवृत्य यातायातं कृत्वा भूमिष्ठाः स्वर्गं गच्छन्ति स्वर्गस्था भूमिमा-  
यान्ति । कथं राक्षसानामपि स्वर्गगतिरित्याशङ्क्याऽऽह—मद्भक्तिरहिता  
इति । मयि सर्वकर्मापणं भक्तिस्तद्रहिताः केवलं काम्यकर्मनिष्ठया स्वर्ग-  
गता अपि रागद्वेषादिदुर्वासनावशीकृतास्तत्रापि राक्षस्या वासनया न  
मुच्यन्ते इत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ १० ॥

इतो धर्मतस्तामस्याः संपदः फलमाह—

तामसीं ये श्रिता राजन्यान्ति ते रौरवं ध्रुवम् ।

अनिर्वाच्यं च ते दुःखं भुञ्जन्ते तत्र संस्थिताः ॥ ११ ॥

दैवान्निःसृत्य नरकाज्जायन्ते भुवि कुब्जकाः ।

जात्यन्धाः पङ्गवो दीना हीनजातिषु ते नृप ॥ १२ ॥

पुनः पापसमाचारा मय्यभक्ताः पतन्ति ते ।

उत्पतन्ति हि मद्भक्ता यां कांचियोनिमाश्रिताः ।

लभन्ते स्वर्गतिं यज्ञैरन्यैर्धर्मैश्च भूमिप ॥ १३ ॥

मद्भक्तिहीनानां कष्टाऽधोगतिरित्युक्त्वा मद्भक्तिमन्तः प्रमादान्महा-  
पापा अप्यारोहक्रमेण लोकत्रयादूर्ध्वं मत्पदं प्राप्नुवन्त्येव । भक्तिमाहा-  
त्म्यादेवोत्तरोत्तरं लब्धसद्वासनत्वात् । यथोक्तं भगवता—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ इति ।

शेषमतिरोहितार्थम् ॥ १३ ॥

तस्मादेवंविधा भक्तिर्महाफला, अतोऽतिदुर्लभेत्याह—

सुलभास्ताः सकामानां मयि भक्तिः सुदुर्लभा ॥ १४ ॥

विमूढा मोहजालेन बद्धाः स्वेन च कर्मणा ।

अहं हन्ता अहं कर्ता अहं भोक्तेतिवादिनः ॥ १५ ॥

अहमेवेश्वरः शास्ता अहं वेत्ता अहं सुखी ।

एतादृशी मतिर्नृणामधः पातयतीह तान् ॥ १६ ॥

ताः स्वर्गतयः । मयि भक्तिर्निष्कामभक्तिः । भक्तिहीनास्तु चित्तशु-  
द्धयभावादहमेवेश्वरः शास्ताऽहं वेत्ताऽहं सुखी, एतादृशी मतिर्नृणामधः  
पातयतीह तान्विमूढत्वादेव पुत्रकलत्रवित्तादिस्नेहेन परमार्थविषये वैचित्यं  
मोहस्तदेव जालं तेन कर्मणा च पापपुण्यरूपेण बद्धा दम्भदर्पा-  
दिभिर्ग्रस्ताः । एतादृशी दर्पादिमतिः । असंधिरार्थः । तान्दर्पादियु-  
क्तान्सां मतिः पातयति नरकं नयतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

तस्मादेतत्समुत्सृज्य दैवीं प्रकृतिमाश्रय ।

भक्तिं कुरु मदीयां त्वमनिशं दृढचेतसा ॥ १७ ॥

यस्मादेवं दैव्यासुरीराक्षसीनां संपदां विविधो विपाकः । तस्मादेत-  
द्विरुद्धविपाकसंपद्वयमुत्सृज्य दैवीमेव संपदमाश्रयेत्याह प्रकृतिं संपदं  
तामेवाऽऽह भक्तिमिति । स्पष्टमन्यत् ॥ १७ ॥

भक्तेरपि त्रैविध्यमाह—

साऽपि भक्तिस्त्रिविधा राजन्सात्त्विकी राजसीतरा ।

यद्देवान्भजते भक्त्या सात्त्विकी सा मता शुभा ॥ १८ ॥

साऽपि भक्तिस्त्रिविधा राजन्सात्त्विकी राजसीतरा यद्देवान्भजते  
भक्त्या, इतरा तामसी । सात्त्विक्या लक्षणमाह—यदिति । देवान्भक्त्यैव  
भजते न तु कामनापूर्वं सा सात्त्विकी शुभा मोक्षहेतुत्वात् ॥ १८ ॥

राजसीभक्तिमाह—

राजसी सा तु विज्ञेया भक्तिर्जन्ममृतिप्रदा ।

यद्यक्षांश्चैव रक्षांसि भजते सर्वभावतः ॥ १९ ॥

यल्लोकः सर्वभावतः पूर्णभक्त्या यक्षात्रक्षांसि च भजते सा राजसी  
भक्तिः । जन्ममृतिप्रदा जन्ममरणप्रवाहमेव प्रकर्षेण ददाति न तु ततो  
मोचयतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

तामसीं भक्तिमाह द्वाभ्याम्—

वेदेनाविहितं क्रूरं साहंकारं सदम्भकम् ।

भजन्ते प्रेतभूतादीन्कर्म कुर्वन्ति कामिकम् ॥ २० ॥

शोषयन्तो निजं देहमन्तःस्थं मां दृढाग्रहाः ।

तामस्येतादृशी भक्तिर्नृणां सा निरयप्रदा ॥ २१ ॥

वेदेनाविहितं तेतास्थिगर्भभित्तेरेडूकं तत्पूजनादि तच्च शत्रुमरण-  
कामेन पूज्यत इति क्रूरम् । “एडूकान्पूजयिष्यन्ति अभिचारपरा नराः”  
इति भविष्ये दर्शनात् । भित्तिः स्त्री कुड्यमेडूकं यदन्तर्न्यस्तकीकसमि-  
त्यमरः । साहंकारं सगर्वं सदम्भकं धर्मध्वजत्वयुक्तम् । कामिकं काम्य-  
मेव कुर्वन्ति न तु निष्कामम् । तीव्रसर्षपभक्षणव्रतादिना देहं शोषयन्तः ।  
अन्तःस्थमन्तर्यामिणं मां च शोषयन्तः । मम संभोगप्राप्त्यभा-  
वेऽपि तद्दर्शनजनित उद्वेगोऽस्तीति भावः । दृढाग्रहाः शरीरवैकल्येऽपि  
तादृशं व्रतं न त्यजन्तीत्यर्थः । तामस्याः फलमाह—तामसीति । स्पष्टा-  
र्थानि पदानि ॥ २१ ॥

अध्यायार्थमुपसंहरंस्तात्पर्यमाह—

कामो लोभस्तया क्रोधो दम्भश्चत्वार इत्यमी ।

महाद्वाराण्यवीचीनां तस्मादेतांस्तु वर्जयेत् ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्गणेशगीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृतार्थ-

शास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजाननवरेण्यसंवादे

उपदेशयोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

काम इदं मे भूयादिति धनादौ गर्वः । लोभ इष्टप्राप्तावप्यधिकापेक्षा ।  
क्रोधः परोत्सादनहेतुश्चित्तविकारः । दम्भो धर्मध्वजत्वम्, अवीचीनां  
नरकाणां, स्पष्टमन्यत् ॥ २२ ॥

श्रीचातुर्धरभाणितौ गणेशगीता-

टीकार्या गणपतिभावदीपिकायाम् ।

गम्भीरप्रतप्तसदर्थदर्शिकाया-

मध्यायः खलु दशमः स्फुटाशयोऽभूत् ॥

इति श्रीमत्पद्माव्यप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्दसू-

रिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायामुप-

देशयोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः ।

यथा भक्तेः सात्त्विकराजसतामसभेदेन त्रैविध्यमुक्तमेवं तपआदी-  
नामपि त्रैविध्यमाह सात्त्विकानामुपादेयत्वं राजसतामसानां हेयत्वं च  
दर्शयन्गजानन उवाच-

तपोऽपि त्रिविधं राजन्कायिकादिप्रभेदतः ।

ऋजुतार्जवशौचा(नि)श्च ब्रह्मचर्यमहिंसनम् ॥ १ ॥

गुरुविज्ञाद्विजातीनां पूजनं चासुरादिषाम् ।

स्वधर्मपालनं नित्यं कायिकं तप ईदृशम् ॥ २ ॥

कायिकादीत्यादिपदेन वाचिकमानसिके गृह्येते । तत्र कायिकमाह  
ऋजुता, हेमन्ते प्रातःस्नानादाववक्रता । अहो कष्टमेतत्कथं कर्तव्यमिति  
बुद्धेरविपर्ययः । आर्जवं तत्रैव श्रद्धया प्रवृत्तिः । शौचं मृज्जलादिना  
मलापकर्षणं, गङ्गास्नानादिना शुद्धिसंपादनं च । ब्रह्मचर्यमुपस्थ-  
निग्रहः । अहिंसनं परपीडावर्जनम् । गुरव आचार्यादयः । विज्ञो  
ब्रह्मिष्ठः । द्विजातयः श्रोत्रियाः । असुराद्विषो देवाः । एतेषां पाद्याध्याच-  
मनीयगन्धपुष्पादिनाऽर्चनं, पूजनं, स्वधर्मः शमो दमस्तपश्चैवेत्यादिर्ब्रा-  
ह्मणधर्मः । शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यमित्यादिः क्षत्रियधर्मः । कृषिगौर-  
क्ष्यवाणिज्यादिर्वैश्यधर्मः । त्रैवर्णिकपरिचर्या शूद्रधर्मः । स्वधर्मस्य परि-  
पालनं कायिकं सात्त्विकं तप उच्यते ॥ २ ॥

वाचिकं सात्त्विकं तप आह-

मर्मास्पृक्च प्रियं वाक्यमनुद्वेगि हितमृतम् ।

अधीतिर्वेदशास्त्राणां वाचिकं तप ईदृशम् ॥ ३ ॥

मर्मास्पृक्, गुप्तदोषप्रकाशनं मर्मस्पर्शस्तद्वहितं वाक्यं मर्मास्पृक् ।  
प्रियं श्राव्यम् । अनुद्वेगि, उद्वेगरहितम्, कृतं सत्यं यथार्थं, वेदानां  
शास्त्राणां चाधीतिरध्ययनमुच्चारणम्, इदं वाचिकं तप उच्यते ॥ ३ ॥

मानसिकं सात्त्विकं तप आह-

अन्तःप्रसादः शान्तत्वं मौनमिन्द्रियनिग्रहः ।

निर्मलाशयता नित्यं मानसं तप ईदृशम् ॥ ४ ॥

अन्तःप्रसादः सत्यपि वैषम्यकार्ये (म्ये) मनसः कालुष्यराहित्यं, शान्तत्वं स्पृहाराहित्यं, मौनं ध्याननिष्ठता तस्य मुख्यसाधनमिन्द्रिय-निग्रहः प्रसिद्धः । नित्यं सर्वदा निर्मलाशयता रागद्वेषास्पर्शचित्तता । एतन्मानसं सात्त्विकं तप इत्यर्थः ॥ ४ ॥

त्रिभिस्त्रिभिः पादैर्द्वाभ्यां च सात्त्विकराजसतामसानि तपांसि स्वरूपतः फलतश्च विभजते—

अकामतः श्रद्धया च यत्तपः सात्त्विकं तु तत् ।

ऋद्ध्यै सत्कारपूजाभ्यां सदम्भं राजसं तपः ॥ ५ ॥

तदस्थिरं जन्ममृती प्रयच्छति न संशयः ।

परात्मपीडकं यच्च तपस्तामसमुच्यते ॥ ६ ॥

निष्कामं श्रद्धोपेतं च सात्त्विकं तपस्तच्च ऋद्ध्यै, ऐश्वर्यादिसमृद्ध्यै सत्काराय सर्वलोकप्रियतमत्वाय पूज्यतायै च भवति । राजसं तपः सदम्भं धर्मध्वजोपेतं तदस्थिरं क्षयिष्णुफलं संसारप्रदं चेत्यर्थः । परपीडकमात्म-पीडकं च यत्तपस्तत्तामसं परपीडकमिति तामसस्य तपसः स्वरूपमा-त्मपीडकमिति तस्य फलम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

गुणमेदेन दानत्रैविध्यमाह—

विधिवाक्यप्रमाणार्थं सत्पात्रे देशकालतः ।

श्रद्धया दीयमानं यद्दानं तत्सात्त्विकं मतम् ॥ ७ ॥

श्रद्धया देयमिति विधिवाक्यरूपं प्रमाणं तदेवार्थः प्रयोजनं यस्य तद्विधिवाक्यप्रमाणार्थं देयमित्येव दीयते न तु किञ्चित्फलोद्देशेन तच्च सत्पात्रे सत्पात्राय श्रोत्रियाय कुटुम्बिनेऽवसीदते यत्, श्रद्धया दीयते तद्दानं सात्त्विकम् ॥ ७ ॥

१ क. ५. 'कायो भ' । २ ख. 'यमानसः का' । ३ ख. 'एतादृशमान' । ४ क. 'विभज्यते' । ५ ख. 'त्रिभिः' । ६ ख. 'पेतत्वं च' । ७ ख. 'स्य गु' । ८ ख. 'त्येवं दी' । ९ ख. 'ने सीदस्कुटुम्बिने य' ।

राजसं दानमाह-

उपकारं फलं वाऽपि काङ्क्षन्निर्दीयते नरैः ।

क्लेशतो दीयमानं वाऽभक्त्या राजसमुच्यते ॥ ८ ॥

उपकारं प्रत्युपकारं फलं च धनादिलाभं काङ्क्षन्निः काङ्क्षमा-  
गेनैर्नैर्दीयते यच्च क्लेशतोऽर्थव्ययदुःखपूर्वकमभक्त्या दीयते तद्राजसं  
दानम् ॥ ८ ॥

तामसं दानमाह-

अकालदेशतोऽपात्रेऽवज्ञया दीयते तु यत् ।

असत्काराच्च यदत्तं तदानं तामसं स्मृतम् ॥ ९ ॥

अकालेऽदेशे चापात्रे नटनर्तकादौ, अवज्ञया हेलनया, असत्कारः  
पूजाराहित्यमेवं यदत्तं तत्तामसम् ॥ ९ ॥

ज्ञानकर्मकर्तृणां प्रत्येकं त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते-

ज्ञानं च त्रिविधं राजञ्शृणुष्व स्थिरचेतसा ।

त्रिधा कर्म च कर्तारं ब्रवीमि ते प्रसङ्गतः ॥ १० ॥

सात्त्विकराजसतामसभेदेन त्रिविधं ज्ञानं, तथा कर्म च त्रिधा त्रिप्र-  
कारं कर्तारं त्रिप्रकारं प्रसङ्गात्ते तुभ्यं ब्रवीमीति प्रत्येकं संबन्धः । ज्ञाना-  
दीनि सात्त्विकान्येव वक्तव्यानि श्रेयस्करत्वात् । राजसतामसान्यपि  
तानि प्रसङ्गादुच्यन्ते ज्ञानार्थम् ॥ १० ॥

सात्त्विकज्ञानमाह-

नानाविधेषु भूतेषु मामेकं वीक्षते तु यः ।

नाशवत्सु च नित्यं मां तज्ज्ञानं सात्त्विकं नृप ॥ ११ ॥

भूतेषु पृथिव्यादिषु जरायुजादिषु च नानाविधेषूत्तममध्यमाधम-  
प्रकारेषु नाशवत्सु जन्मवृद्ध्यपक्षयवत्सु मामेकं सद्रूपेण स्मरणरूपेण  
चानुवर्तमानं यो वीक्षते तस्य पुरुषस्य यज्ज्ञानं तत्सात्त्विकमद्वैतवि-  
षयत्वात् ॥ ११ ॥

राजसं ज्ञानमाह-

तेषु वेत्ति पृथग्भूतं विविधं भावमाश्रितः ।

मामव्ययं च तज्ज्ञानं राजसं परिकीर्तितम् ॥ १२ ॥

तेषु वेत्ति पृथग्भूतं तेषु नानाविधेषु भूतेषु मामुपादानत्वेन सर्व-  
त्रानुस्यूतमपि पृथग्भूतं प्रतिवेहं भिन्नं विविधं हीनमध्यमोत्तमभाव-  
माश्रितः । तादृशभेदबुद्धिमान्मामव्ययं चाव्ययमपि प्रतिशरीरं हर्ष-  
विषादादिर्विकाररूपं व्ययवन्तं च येन ज्ञानेन मां पश्यति तज्ज्ञानं  
राजसम् ॥ १२ ॥

तामसं ज्ञानमाह—

हेतुहीनमसत्यं च देहात्मविषयं च यत् ।

असदर्थाल्पविषयं तामसं ज्ञानमुच्यते ॥ १३ ॥

हेतुः कारणं फलं च ताभ्यां हीनमसत्यम् । अयथार्थं, देहात्म-  
विषयमहमेव सुन्दरो गौर इत्यादिर्विषयो यस्य तत्तथा । असदर्थं च  
तदल्पविषयं च निन्द्यविषयं तुच्छविषयं तामसं ज्ञानम् ॥ १३ ॥

कर्मत्रैविध्यं प्रतिज्ञाय सात्त्विकमाह सार्धेन—

भेदतस्त्रिविधं कर्म विद्धि राजन्मयेरितम् ।

कामनाद्वेषदम्भैर्यद्रहितं नित्यकर्म यत् ।

कृतं विना फलेच्छां यत्कर्म सात्त्विकमुच्यते ॥ १४ ॥

भेदतस्त्रिविधसात्त्विकराजसतामसभेदतस्त्रिप्रकारकामनारहितं निष्कामं  
द्वेषरहितं, परपीडागून्यं दम्भगून्यं धर्मध्वजराहितं नित्यमग्निहोत्रसंघो-  
पासनादि । फलेच्छामामुष्मिकफलेच्छां विना यत्कृतं तत्सात्त्विकम् ॥ १४ ॥

राजसं कर्माऽऽह—

यद्वहुक्लेशतः कर्म कृतं यच्च फलेच्छया ।

क्रियमाणं नृभिर्दम्भात्कर्म राजसमुच्यते ॥ १५ ॥

क्लेशो देहाद्यायासः । शेषः स्पष्टः ॥ १५ ॥

तामसमाह—

अनपेक्ष्य स्वशक्तिं यदर्थक्षयकरं च यत् ।

अज्ञानात्क्रियमाणं यत्कर्म तामसमीरितम् ॥ १६ ॥

१ ख. घ. 'धर्मभावं विविधं' । २ ख. 'मविकाररूपं व्यक्तत्वं च येन ज्ञानेन मां पश्यति तत्पृथग्' ।  
३ क. घ. 'दृशं भे' । ४ ख. 'दितं' ।



कर्तारं त्रिविधं विद्धि कथ्यमानं मया नृप ।

धैर्योत्साही समोऽसिद्धौ सिद्धौ चाविक्रियस्तु यः ॥

अहंकारविमुक्तो यः स कर्ता सात्त्विको नृप ॥ १८ ॥

धैर्येत्यन्तः प्राक्तनो ग्रन्थः स्पष्टार्थः । धैर्यमाक्रान्ताया योगभूमेरप्र-  
च्युतिः । उत्साह उत्तरभूम्याक्रमण आस्था, तदुभयवान्धैर्योत्साही । फल-  
स्यासिद्धौ सिद्धौ च समो निर्विकारोऽविक्रिय आलस्यमश्रद्धादित्वं  
विक्रिया तद्रहितः । अहंकारविमुक्तोऽहं कर्तेत्यभिमानहीन ईश्वरप्रेरितः  
करोमीति भावनावानित्यर्थः । यः कर्ता स सात्त्विकः ॥ १८ ॥

राजसं कर्तारमाह—

कुर्वन्हर्षं च शोकं च हिंसां फलस्पृहां च यः ।

अशुचिर्लुब्धको यस्तु राजसोऽसौ निगद्यते ॥ १९ ॥

फलप्राप्तौ हर्षं तदप्राप्तौ शोकं च कुर्वन्हिंसापरो यः फलस्पृहां च  
कुर्वन्भवति यश्चाशुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचरहितः । लुब्धको व्याधवत्परव-  
ञ्चननिपुणः । ईदृशः कर्ता राजसः ॥ १९ ॥

तामसं कर्तारमाह—

प्रमादाज्ज्ञानमहिम्नः परोच्छेदपरः शठः ।

अलसस्तर्कवान्यस्तु कर्ताऽसौ तामसो मतः ॥ २० ॥

प्रमादोऽनवहितत्वमज्ञानं कर्तव्यानवबोधः । ताभ्यां सहितः शठो  
वञ्चनपरः । तर्को निष्प्रसञ्जनं तद्वानेवंविधः कर्ता तामसः ॥ २० ॥

तन्त्रेणैव सात्त्विकराजसतामसानां सुखानां दुःखानां च विभागं वक्तुं  
प्रतिजानीते—

सुखं च त्रिविधं राजनदुःखं च क्रमतः शृणु ।

सात्त्विकं राजसं चैव तामसं च मयोच्यते ॥ २१ ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः—

सात्त्विके सुखदुःखे विभजते सार्धेन—

विषवद्भासते पूर्वं दुःखस्यान्तकरं च यत् ।

इच्छय(ष्य)मानं(णं) तथा वृत्त्या यदन्तेऽमृतवद्भवेत् ॥ २२ ॥

प्रसादात्स्वस्य बुद्धेर्यत्सात्त्विकं सुखमीदृशम् ।

योगो ज्ञानश्रीयमान आसनादिना निगूह्यमाणेषु देहेन्द्रियप्राणेषु पूर्वं

विषवद्भासते दुःखकरत्वात्तदिदं साधकस्य दुःखं सत्त्वोत्कर्षे सत्येव सुसहं भवति । अत इदं दुःखं रजःपरिमाणामोऽपि सात्त्विकमुच्यते तदेतद्विष-  
वद्भासते पूर्वमित्यनेनोक्तम् । दुःखस्य लोभप्रवृत्त्यादिरूपस्य रजःपरिणा-  
मस्यान्तमवसानं करोतीति दुःखस्यान्तकरं ततश्च वृत्त्या निगृह्यमा-  
णेन प्रत्यक्प्रवणेन चेतसेष्यमाणेनेच्छाविषयीक्रियमाणमप्यन्ते परिपा-  
केऽमृतवद्भवति पापं यथा प्रत्यक्प्रवणं चेतो भवति तथा स्वरूपसुख-  
मधिकमाविर्भवतीत्यर्थः । यथोक्तं वृद्धेः—

यावद्यावन्निरस्यायं देहादीन्प्रत्यगञ्चति ।

तावत्तावत्तदर्थोऽपि त्वमर्थं प्रविविक्षति । इति ॥

तदिदं सात्त्विकसुखं स्वस्य बुद्धेः स्वकीयस्य बुद्धिप्रसादाद्रजस्तमो-  
मलराहित्येन स्वच्छत्वात् । यल्लब्धं संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोः समाधिसुखं  
तत्सात्त्विकमुच्यते । तथा च श्रुतिः—

“समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो

निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत् ।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा

स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते” (मै० ३४) इति ॥ २२ ॥

राजसं सुखं विभजते—

विषयाणां तु यो भोगो भासतेऽमृतवत्पुरा ।

हालाहलमिवान्ते यद्राजसं सुखमीदृशम् ॥ २४ ॥

विषयाणां स्रक्चन्दनवनिनानां दिव्ययानानां च य उपभोगः सुखार्थं  
स पुरोपभोगकाले, अमृतवत्प्रीतिकरो भासते । यच्चान्ते हालाहलवद्वि-  
षवद्दुःखं चान्ते तद्राजसमीदृशं सुखं नानुपहृत्य भूतानि भोगः संभवतीति  
न्यायेन भूतोपघाताद्दोषात्सुखमैन्द्रियकं राजन्स्वर्गे नरक एव चेतिवचना-  
च्चास्यान्ते नरकप्रदत्वाद्द्वालाहलवदित्युक्तम् ॥ २४ ॥

तामसं सुखं विभजते—

तन्द्रीप्रमादसंभूतमालस्यप्रभवं च यत् ।

सर्वदा मोहकं स्वस्य सुखं तामसमीदृशम् ॥ २५ ॥

तामसं सुखं मद्यपानादिजं शेषं सुगमम् ॥ २५ ॥

न तदस्ति यदेतैर्यन्मुक्तं स्याद्विविधैर्गुणैः ॥ २६ ॥

गुणैरिति । गुणप्रकरणोपसंहारार्थोऽर्धश्लोक इहैव पठनीयः । यदिहास्ति तदेतैरेव त्रिभिर्गुणैः स्यात् । इह जगद्यद्ब्रह्मादिमृत्तिकान्तं प्राणिजातमस्ति तत्सर्वमेभिरेव त्रिभिर्गुणैर्निर्मितं न ह्यस्मिन्संसारे त्रैगुण्यादन्यत्किंचिदुपादानमस्ति यस्मादेवं तस्माद्यदेभिस्त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रवृत्तिस्थितिलयैर्युक्तं तन्नास्ति । ततश्च सत्त्वोत्कर्षनिबन्धनोर्ध्वा गतिः । तम उत्कर्षनिबन्धनाऽधोगतिः । तस्माद्गुणांशवैषम्यकृतमेव ब्रह्मादिस्तम्भान्तानां तारतम्यं न गुणमुक्तत्वकृतमिति भावः ॥ २६ ॥

कथं तर्हि गुणेभ्यो मुच्यत इत्यपेक्षायां स्वधर्माचरणादेव मुच्यत इति विवक्षुः स्वधर्माचरणनिबन्धकं चिदुपासनप्रकारं तावद्विधत्ते—

राजन्ब्रह्मापि त्रिविधमोतत्सदितिभेदतः ।

त्रिलोकेषु त्रिधा भूतमखिलं भूप वर्तते ॥ २७ ॥

हे राजन्वरेण्य ब्रह्मापि त्रिविधं यथा वेदे ब्रह्मशब्दो दृष्टो ब्रह्मो-मिति, ईश्वरे ब्रह्मशब्दो दृष्टो ब्रह्मार्पणमिति, यज्ञे ब्रह्मशब्दो वृष्टो “ब्रह्म वा यः क्रियमाणं निनित्सात्” इति । तत्रोक्तापूर्वकाः सर्वे मन्त्राः सर्वाणि च कर्माणि प्रवर्तन्ते । तथोक्तार्थः परमात्मा तत्प्रीत्यर्थं सर्वाणि कर्माणि प्रवर्तन्ते । तान्येवं कर्माण्यविनाशफलत्वात्सच्छब्देन गीयन्ते । तदेतन्निविधं ब्रह्मोतत्सदिति शब्दैरभिधीयते । यथोक्तं विधिना कृतमीश्वरेऽर्पितं चाध्ययनयज्ञादिकं कर्म मोक्षाय भवतीति । व्यतिरेकमुखेण वाजसनेयिनो दर्शयन्ति—“एतद्वै तदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके यजति ददाति तपस्तप्यतेऽपि बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति” ( बृ० ३।८।८ ) इति । प्रथमाक्षरमविदित्वाऽस्मिँल्लोके कृतं कर्म नश्यति तदेवाक्षरप्राप्त्युद्देशेन कृतं सफलमविर्नाशि सद्भवतीत्यर्थः । तदेतन्निविधं ब्रह्मापि त्रिलोकेषु त्रिविधेषु लोकेषु सात्त्विकराजसतामसेषु पुरुषेषु तत्तद्गुणप्राधान्याद्विधा त्रिप्रकारम् । अखिलं कर्म भूप वर्तते तत्र सात्त्विकः पक्षो यथोक्तविधो दर्शित एव । एवं राजसा अपि

१ क. घ. 'भिः प्रख्याप्र' । २ क. घ. 'तिशीलैर्मु' । ३ ख. 'नां न तारतम्येन गुणमुक्तत्वं कृ' । ४ ख. यज्ञं ब्र' । ५ ख. न्ते' । यथोक्तारः प' । ६ क. घ. 'नाशासि' । ७ ख. 'ष सा' ।

वैदिकं कर्म यथोक्तविधिना पुत्रादिकाम्यया कृत्वा तद्द्वारेऽश्वरप्रीति-  
मुत्पाद्य तदनुग्रहात्तं तं कामं लभन्ते । एवं तामसेष्वपि श्येनेनाभिचरन्त्य-  
जेतेति विहितश्येनादिष्वप्येतद्योज्यम् । अत्र राजसतामसपक्षौ हान्यर्थं  
दर्शितौ ॥ २७ ॥

एवं विदुषां सात्त्विकानां मोक्षोपायभूतानि कर्माश्रितानि कानिचि-  
द्विशेषणान्युक्त्वा चतुर्णां वर्णानामावश्यककर्मविभागं वक्तुं प्रतिजानीते—

ब्रह्मक्षत्रियविदूशूद्राः स्वभावाद्भिन्नकर्मिणः ।

तानि तेषां तु कर्माणि संक्षेपात्तेऽधुना वदे ॥ २८ ॥

कर्मिणः कर्मवन्तः । वदे प्रकाशये । ते तुभ्यं शेषं स्पष्टम् ॥ २८ ॥

अथ ब्राह्मणानां स्वाभाविकानि कर्माण्याह—श्लोकद्वयेन—

अन्तर्बाह्येन्द्रियाणां च वश्यत्वमृजुता क्षमा ।

नानातपांसि शौचं च द्विविधं ज्ञानमात्मनः ॥ २९ ॥

वेदशास्त्रपुराणानां स्मृतीनां ज्ञानमेव च ।

अनुष्ठानं तदर्थानां कर्म ब्राह्ममुदाहृतम् ॥ ३० ॥

अन्तरिन्द्रियवश्यत्वं कामक्रोधलोभादिदोषराहित्यं शमाख्यम् । बाह्ये-  
न्द्रियवश्यत्वं वाक्पाणिपादादिचापल्यराहित्यं दमाख्यम् । उभयमपि  
वृम्भवतः संभवतीति तद्यावृत्त्यर्थमृजुतेत्युक्तम् । ऋजुताऽकौटिल्यं,  
क्षमा प्रसिद्धा । नानातपांसि उक्तविधानि कायिकवाचिकमानसि-  
कानि सात्त्विकान्येव तपांसि । शौचं च मृजलाभ्यां बाह्यं भावशुद्धिरा-  
न्तरं च । आत्मनो द्विविधं ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशजं परोक्षं ध्यानजमप-  
रोक्षं चेति द्विविधमात्मज्ञानम् । वेदादीनां ज्ञानं वेदार्थज्ञानं शास्त्रार्थ-  
ज्ञानम् । पुराणार्थज्ञानं मन्वाद्यष्टादशस्मृत्यर्थानामपि ज्ञानम् । तदर्थानां  
वेदादिभिः प्रदर्शितानामर्थानां यथाधिकारमनुष्ठानमाचरणम् । एतत्सर्वं  
ब्राह्मं ब्रह्मजातेरिदं विहितं ब्राह्ममुदाहृतम् । मयेति शेषः । एतदाचरन्ब्रा-  
ह्मणोऽवश्यं मुच्यत इति भावः ॥ ३० ॥

अथ क्षत्रजातेरुचितं स्वभावजं कर्माऽऽह—

दार्ढ्यं शौर्यं च दाक्ष्यं च युद्धे पृष्ठाप्रदर्शनम् ।

शरण्यपालनं दानं धृतिस्तेजः स्वभावजम् ॥ ३१ ॥

प्रभुता मनऔन्नत्यं सुनीतिर्लोकपालनम् ।

पञ्चकर्माधिकारित्वं क्षात्रं कर्म समीरितम् ॥ ३२ ॥

दाढ्यं शस्त्रास्त्रविद्यायां दृढतरोऽभ्यासः । शौर्यं शस्त्रास्त्रप्रयोगसामर्थ्यं,  
दाक्ष्यं परप्रयुक्तशस्त्रास्त्राणां निवारणे निपातेऽपि व्यामोहराहित्यम् ।  
एतच्चितयफलं, युद्धे पृष्ठाप्रदर्शनमपराङ्मुखत्वम् । एतदेव क्षात्रं कर्म ।  
शरण्यपालनं शरण्यः शरणागतस्तस्य पालनम् । शिविदिलीपा-  
दिवत्स्वशरीरार्पणेनापि संरक्षणम् । इदं द्वितीयं कर्म, दानं कर्णदधी-  
चिवत्स्वाङ्गसमर्पणत्वेऽप्यतिथेरेव मुख्यसंपादनम् । इदं तृतीयं कर्म, धृति-  
स्तेजः स्वभावजमित्येतत्पूर्वेषां त्रयाणामपि विशेषणम् । तथा हि  
पूर्वोक्तं त्रयमपि स्वभावजेनाऽऽगन्तुकैर्न तेजसा सामर्थ्येन च विना न  
भवतीत्यतस्तेषामिदं युक्तविशेषणं धृतिस्तेजः स्वभावजमिति । वेदाध्य-  
यनं तदर्थानुष्ठानं चास्य त्रैवर्णिकत्वादेव प्राप्तमतो नोक्तं दानेन वा  
तदुपलक्षणीयम् । प्रभुता मनऔन्नत्यं प्रभुतेत्यस्यैव व्याख्यानं मनऔन्न-  
त्यमिति चतुर्थमिदम् । एवं सुनीतिरित्यस्यैव व्याख्यानं लोकपालनमिति ।  
एतत्पञ्चमम् । एतानि पञ्च कुर्वन्क्षत्रियः क्रममुक्तिस्थानं प्राप्नोति । तथा  
च स्मर्यते-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।

परिव्राज्योगयुक्तश्च रणे वाऽभिमुखो हतः ॥ इति ॥ ३२ ॥

वैश्यकर्म विभजते-

नानावस्तुक्रयो भूमेः कर्षणं रक्षणं गवाम् ।

त्रिधा कर्माधिकारित्वं वैश्यानां कर्म ईदृशम् ॥ ३३ ॥

नानावस्तुक्रयः । क्रय इति विक्रयस्याप्युपलक्षणम् । एतेन वाणि-  
ज्यमुक्तम् । भूमेः कर्षणं कृषिकर्म, गवां रक्षणं गौरक्ष्यमेतच्चितयं वैश्य-  
जीविका । इज्याध्ययनदानानि च पूर्ववदेवास्य भवन्ति । ततश्चायमारो-  
हक्रमेण मोक्षयोग्यो भवति ॥ ३३ ॥

शूद्रकर्माणि विभजते-

१ क. 'खन्वं तदेकं क्षा' । घ. 'स्त्रार्थं तदेकं क्षा' । २ ख. 'त्वेऽप्य' । ३ क. ख. 'ननागते' ।

४ ख. वैश्यकर्मममीरितम् । न.सा' ।

दानं द्विजानां शुश्रूषा सर्वदा शिवसेवनम् ।

एतादृशं नरव्याघ्र कर्म शौद्रमुदीरितम् ॥ ३३ ॥

शिवपूजनमेवास्य पूर्वेषां च मुख्यं मोक्षबीजं शेषमतिरोहिता-  
र्थम् ॥ ३३ ॥

चातुर्वर्ण्यकर्मविभागफलमुपसंहरति—

स्वस्वकर्मरता एते मय्यर्प्याखिलकारिणः ।

मत्प्रसादात्स्थिरं स्थानं यान्ति ते परमं नृप ॥ ३४ ॥

स्वस्वकर्मरताः स्वे स्वे कर्मणि रताः श्रद्धाद्यतिशयेन प्रीतियुक्ताः ।  
एते चत्वारो वर्णाः । मयि परमगुरौ, अप्यर्प्याखिलकारिणः । अखिलं  
साङ्गोपाङ्गं स्वं स्वं कर्म कृत्वा समर्पयन्ति मुखं व्यादाय स्वपितीतिव-  
त्कृत्वाप्रत्यय उत्तरकालेऽपि बोध्यः । अप्यर्प्येत्यसमासेऽपि क्तवो ल्यबादेश  
आर्षः । परमं स्थिरमिति विशेषणाभ्यां क्रममुक्तिस्थानं ते यान्तीत्युक्तम् ।  
मत्प्रसादादित्यनेन मया वेदमुखेनाऽऽज्ञापितं स्वधर्ममनुतिष्ठन्तस्ते मदाज्ञा-  
कारित्वान्मत्प्रीतिकरा भवन्ति । प्रीतश्चाहं प्रसन्नो भूत्वा तान्संसारसाग-  
रादुद्धरामीति भावः ॥ ३४ ॥

उपपादितं शास्त्रमुपसंहरति—

इति ते कथितो राजन्प्रसादायोग उत्तमः ।

साङ्गोपाङ्गः सविस्तारोऽनादिसिद्धो मया प्रिय ॥ ३५ ॥

हे राजन्वरेण्य, इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यं योगो योगप्रधान आत्म-  
विद्यारूपः कथित उक्तः । प्रसादादिति वरेण्ये स्वानुग्रहः प्रकाशितः ।  
अनादिसिद्धो वेदबोधितः । प्रसादे हेतुः प्रियेत्यनेन दर्शितः । साङ्गः,  
अङ्गानि यमनियमादीनि उपाङ्गानि निष्कामाणि यज्ञायज्ञादीनि तैः सहितः  
साङ्गोपाङ्गः । सविस्तारः, विस्तरो ग्रन्थबाहुल्यं तेन [सहितः] “ प्रथमे  
वावशब्दे ” इति शब्दे प्रथमेऽप्यशब्द इतिपर्युदासेऽप्यार्षोऽयम् ॥ ३५ ॥

एतस्य गोपने परा सिद्धिरस्तीत्याह—

इत्थं योगं मयाऽऽख्यातं नाऽऽख्यातं कस्य चिन्नृप ।

गोपायैनं ततः सिद्धिं परां यास्यस्यनुत्तमाम् ॥ ३६ ॥

इत्थमनेन प्रकारेण मयाऽऽख्यातं व्याख्यातं योगं कस्यचिद्भक्तस्य

मयाऽपि नाऽऽख्यातं याख्यातं न हे नृप । ईदृशमेनं योगं गोपाय पालय  
ततो गोपनात्परां श्रेष्ठामनुत्तमां यदपेक्षयाऽन्यदुत्तमं नास्ति तां सिद्धिं  
यास्यसि प्राप्स्यसि । विद्यायोगगोपनमपात्रेष्वप्रकाशनं तेन हि विद्या-  
निर्वीर्या भवतीति श्रूयते—“विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेव-  
धिष्ठेहमास्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा  
स्याम्” (नि० २।४) इति ॥ ३६ ॥

तामिमं गजाननवरेण्यसंवादमुपसंहरन्व्यास उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा प्रसन्नस्य महात्मनः ।

गणेशस्य वरेण्यः स चकार च यथोदितम् ॥ ३७ ॥

इति उक्तप्रकारेण तस्य गणेशस्य महात्मनः परमेश्वरस्य प्रसन्नस्य  
वचः प्रसादरूपं गीतावाक्यं श्रुत्वा स वरेण्यो राजा यथा गणेशेनोदितं  
साङ्गोपाङ्गस्य योगोऽस्यानुष्ठानं तथैव चकारानुष्ठितवान् ॥ ३७ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

त्यक्त्वा राज्यं कुटुम्बं च कान्तारं प्रययौ रयात् ।

उपदिष्टं यथायोगमास्थाय मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

त्यक्त्वा राज्यमित्यनेन वित्तैषणात्याग उक्तः । कुटुम्बं च त्यक्त्वेत्यनेन  
पुत्रैषणालोकैषणयोस्त्याग उक्तः । कान्तारं वनं प्रति रयाद्वेगात्प्रययौ ।  
यद्यपि “ एतं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणा-  
याश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ” ( बृ० ३।५।१ )  
इति श्रुतावेषणात्रयत्यागपूर्वकं पारिव्राज्यमेवाऽऽत्मश्रवणानन्तरमुक्तं  
तथाऽपि—

मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् ।

बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मो विधीयते ॥

इत्यब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वरेण्यस्य चतुर्थाश्रमस्वीकारनिषेधादेशणा-  
त्रयत्यागपूर्वकं वरेण्यो राजा पुत्रे भार्या निधायैकाकी कान्तारं वानप्र-  
स्थाश्रममेव प्रययाविति द्रष्टव्यम् । कान्तारे च गणेशेन यथोपदिष्टं तथा  
योगमास्थायानुष्ठाय मोक्षमाप्नुयादवाप्तवान् । अतिष्ठन्मोक्षमाप्तवान्, इति  
पाठः स्पष्टः ॥ ३८ ॥

एतच्छास्त्रश्रवणफलमाह—

इमं गोप्यतमं योगं शृणोति श्रद्धया तु यः ।

सोऽपि कैवल्यमाप्नोति यथा योगी तथैव सः ॥ ३९ ॥

आप्नोतीति । “वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा” अयोगः श्रुत्वा मत्वा ध्यात्वा च शीघ्रमेव कैवल्यमाप्नोतीत्यर्थः । यथा योगी तथैव स इत्यनेन योगिनो यथा चित्तशुद्धिः परानुग्रहसामर्थ्यं चास्त्येवं श्रद्धापूर्वकमेतच्छ्रोतुरपि तदुभयं भवतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अस्य ग्रन्थस्य श्रावयितुर्व्याख्यातुश्च फलमाह—

य इमं श्रावयेद्योगं कृत्वाऽस्यार्थं सुबुद्धिमान् ।

यथा योगी तथा सोऽपि परं निर्वाणमृच्छति ॥ ४० ॥

अस्यार्थं कृत्वेतिमुखतो व्याख्यानं स्वरूपतोऽनुष्ठानं चेतिद्वयं दर्शितम् । शेषं सुगमम् ॥ ४० ॥

द्विविधस्यापि पाठिनः समं फलं विवक्षुराह—

यो गीतां सम्यगभ्यस्य ज्ञात्वा चार्थं गुरोर्मुखात् ।

कृत्वा पूजां गणेशस्य प्रत्यहं पठते तु यः ॥ ४१ ॥

अर्थज्ञानपूर्वकं पुनः पुनः पठतीत्येकः । पाठकः विना यथाज्ञानं गणपतिपूजापूर्वकं पठतीति द्वितीयः । तु शब्दस्य वैलक्षण्यार्थः । स्पष्टाऽक्षरयोजना ॥ ४१ ॥

अनयोर्द्वयोरपि फलं स्तौति प्रवृत्त्यतिशयार्थं पञ्चभिः—

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वाऽपि यः पठेत् ।

ब्रह्मीभूतस्य तस्यापि दर्शनान्मुच्यते नरः ॥ ४२ ॥

न यज्ञैर्न व्रतैर्दानैर्नाग्निहोत्रैर्महाधनैः ।

न वेदैः सम्यगभ्यस्तैः सम्यग्ज्ञातैः सहाङ्गकैः ॥ ४३ ॥

पुराणश्रवणैर्नैव न शास्त्रैः साधुचिन्तितैः ।

प्राप्यते ब्रह्म परममनया प्राप्यते नरैः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मघ्नो मद्यपः स्तेनो गुरुतल्पगमोऽपि यः ।

चतुर्णां यस्तु संसर्गी महापातककारिणाम् ॥ ४५ ॥

स्त्रीहिंसागोवधादीनां कर्तारो ये च पापिनः ।

ते सर्वे प्रतिमुच्यन्ते गीतामेतां पठन्ति चेत् ॥ ४६ ॥

एते श्लोकाः स्पष्टार्थाः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥



नित्यपाठफलं चतुर्थीपाठफलं चाऽऽह—

यः पठेत्प्रयतो नित्यं स गणेशो न संशयः ।

चतुर्थ्यां यः पठेद्भक्त्या सोऽपि मोक्षाय कल्पते ॥ ४७ ॥

प्रयतः शुचिः सन्यः प्रत्यहं पठति स गणेशवत्कृतकृत्य एव भवतीति पूर्वार्धार्थः । यस्तु प्रतिपक्षं चतुर्थ्यां पठति सोऽपि मोक्षयोग्यो भवतीत्युत्तरार्धार्थः ॥ ४७ ॥

पक्षद्वयेऽप्यशक्तस्य पक्षान्तरमाह—

ततः क्षेत्रं समासाय स्नात्वाऽभ्यर्च्य गजानम् ।

सकृद्गीतां पठन्भक्त्या ब्रह्मभूयाय जायते ॥ ४८ ॥

यतो नित्यपाठे पक्षपाठेऽप्यशक्तस्ततो हेतोः क्षेत्रं गणपतिदेवत्यं किञ्चित्क्षेत्रं देवतागारं चाऽऽसाद्य प्राप्य तत्र स्नात्वा गजाननमभ्यर्च्य सकृद्विमां गीतां पठन्सकृत्पाठेनैव ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय योग्यो भवति । क्षेत्रे सकृत्पाठजेनैव पुण्येन जन्मान्तरे ज्ञानं प्राप्यावश्यं मुच्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

क्षेत्रस्याप्यलाभ उपायान्तरमाह चतुर्भिः—

भाद्रे मासि सिते पक्षे चतुर्थ्यां भक्तिमान्नरः ।

कृत्वा महीमयीं मूर्तिं गणेशस्य चतुर्भुजाम् ॥ ४९ ॥

सवाहनां सायुधां च समभ्यर्च्य यथाविधि ।

यः पठेत्सप्तकृत्वस्तु गीतामेतां प्रयत्नतः ॥ ५० ॥

ददाति तस्यै तुष्टोऽसौ गणेशो भोगमुत्तमम् ।

पुत्रान्पौत्रान्धनं धान्यं पशुरत्नादिसंपदः ॥ ५१ ॥

विद्यार्थिनो भवेद्विद्या सुखार्थी सुखमाप्नुयात् ।

कामानन्याल्लभेत्कामी मुक्तिमन्ते प्रयान्ति ते ॥ ५२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्गणेशगीतासूपनिषदर्थगर्भासु योगामृ-

तार्थशास्त्रे श्रीमदादिगणेशपुराणे श्रीगजानन-

वरेण्यसंवादे गुणत्रयविकृतियोगो नामै-

कादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

महीमयी मृद्धारुपाषाणादि मयी वाहनायुधादिसर्वं कल्पोक्तमार्गेण षट्पञ्चाशत्प्रभेदेष्वन्यतरूपगणपतिविग्रहं कृत्वा पूजयेदित्यर्थः । किंचैतत्सर्वं गणेशो ददातीति पूर्वान्वयः ।

समस्तपुरुषार्थसाधनकामैरेव पठनीयमित्यत आह—द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा चेत्युपक्रम्य तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादिनां, ऋग्वेद-शास्त्रादिलक्षणां परां विद्यामुक्त्वाऽथ परात्पदमक्षरमधिगम्यते यत्पदं दृश्यमग्राह्यमिति गुरुप्रसादप्राप्ययोगकलाधिगम्यरूपा परा विद्या चोक्ता तदुभयार्थिनः पुरुषस्य विद्योभयरूपादि यथाकाममस्य पाठादेव भवति सुखार्थ्युभयविधविद्याफलभूतं तत्रापराया विद्यायाः फलमैहिकम् । “युवा स्यात्साधुयुवाऽध्यायकः । आशिष्ठो वृद्धिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः” । (तै०२।८।१) इति श्रुतं मानुषानन्दान्तमपराया एवाऽऽमुष्मिकं फलमुत्तरोत्तरशतगुणवृद्ध्या परार्धाधिकमानुषानन्दमिति “स एको ब्रह्मण आनन्दः” (तै०२।८।१) इति श्रुतेर्हिरण्यगर्भानन्दान्तम् । एवं पराया अप्यैहिकं फलं “य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति” (बृ०१०) इति सर्वात्मभावः । “आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्” (बृ०२।४।५) इति सर्वज्ञत्वं “सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह” (तै०२।१।१) इति युगपत्सर्वकामावाप्तिश्चेति नान्तरीयकं दृष्टं फलम् । मुख्यं तु “तरति शोकमात्मवित्” (छा०७।१।३) इति श्रुत्याऽनर्थनिवृत्तिः । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदित्यादिनाऽद्वैतादर्शनरूपा परमानन्दावाप्तिरुक्ता । तदनेन धर्मकामस्य मोक्षकामस्य च गणेश-गीताध्ययनं विहितं कामानन्याल्लभेत्कामीत्यनेन काम्यन्त इति कामा अर्था रूपादयः । तत्संयोगजाः स्पर्शाश्चेति तन्त्रेणार्थकामौ गृह्येते तेनार्थार्थी कामार्थी चेदं शास्त्रं पठेदित्युक्तं भवति । ननु सुखमैन्द्रियकं राजन्स्वर्गे नरक एव चेतिस्मरणार्थकामार्थिनो गणेशगीतापाठः फलतः श्येनादिवदनर्थकरो भवतीत्याशङ्कामपनुदति—मुक्तिमन्ते प्रयान्ति त इति । तेऽर्थकामपरा अपि, अन्ते नरकं न प्रयान्ति । अपि तु मुक्तिमेव प्रयान्ति । अयं भावः—“श्येनेनाभिचरन्यजेत” इति-विहितः श्येनः शत्रुमारणाख्यस्वप्रयोजनमात्रसिद्ध्यर्थ इतिफलतोऽन-

१ घ किंच स० । २ घ. ‘ना । वेद० । ३ क ‘रायवैतदक्ष’ । घ. ‘राययोतदक्ष’ । ४ क यतयतद० । ख. यत्तपतद० । ५ ख. ‘त पारायवि’ । ६ क. घ. ‘श्रुतमा’ । ७ ख. ‘नुषो-नन्दमिति स । ८ क. ख ‘श्रुताऽन’ । ९ क. घ ‘नेनाष’ ।

१८२ श्रीमद्गणेशगीता नीलकण्ठविरचितटीकासमेता- [ अध्यायः ११ ]

र्थकरः । गणेशमीतापाठस्तु शुष्यत्सस्यसंजीवनकामः । “ कारीर्या यजेत ” इतिस्वप्रयोजनार्थं वृष्टिकामेन विहिताऽपि कारीरीष्टिर्वृष्टिरूपेण फलेन कृत्स्नं जगदाह्लादयति । अतस्तत्रात्यल्पं दृष्टं फलम् । अदृष्टं फलं तु कर्तुरपरिमितम् । एवं गणेशगीताध्येतुरपि दृष्टं फलमल्पम्, अदृष्टमपरिमितं भवतीति तन्मोक्षायोपपद्यत इति युक्तमुक्तं मुक्तिमन्ते प्रयान्ति त इति ।

न वेद्मि हेरम्ब गीतारहस्यं तथाऽपि टीकाऽत्र मया व्यधायि ।  
तच्चापलं मे क्षमतां दयालुर्लम्बोदरे किं न निमज्जतीह ॥

श्रीचातुर्धरभणितौ गणेशगीता-  
टीकायां गणपतिभावदीपिकायाम् ।

गम्भीरप्रतप्तसदर्थदर्शिकाया-

मध्यायो दशमपरोऽन्तिमः स्फुटोऽभूत् ॥ ११ ॥

\* गगनशरगिरीन्दौ १७५० विक्रमार्कस्य शाके

पुरहरपुरि काश्यां भाद्रशुक्ले चतुर्थ्याम् ॥

सुरगुरुदिवसेऽभूत्पूर्ण एष प्रबन्धो

गणपतिपदपद्मे चार्पितोऽतीव भक्त्या ॥ १ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरंधरचतुर्धरवंशावतंसगोविन्दसू-  
रिसूनोर्नीलकण्ठस्य कृतौ गणेशगीताटीकायां गणपतिभां-  
वदीपिकायां गुणत्रयविकृतियोगो नामै-  
कादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

समाप्तेयं सटीका गणेशगीता ॥





# अथ श्रीमद्गणेशमीताश्लोकाद्यचरणानां वर्णानुक्रमः ।

| श्लोकाद्याः                           | अ. श्लो. | श्लोकाद्याः                          | अ. श्लो. |
|---------------------------------------|----------|--------------------------------------|----------|
| अ.                                    |          | अन्तः प्रसादः शान्तत्वं ... .. १११ ४ |          |
| अकर्मणः श्रेष्ठतमं ... .. २१ ७        |          | अन्या मत्प्रकृतिं वृद्धा... .. ६१ ५  |          |
| अकामतः श्रद्धया च ... .. १११ ५        |          | अन्ये नानाविधान्देवा... .. ६११३      |          |
| अकालदेशतोऽपात्रे ... .. १११ ९         |          | अब्धेरुत्पद्यमानास्ते ... .. ८११९    |          |
| अक्लेशं भूप भुवनै- ... .. ११३१        |          | अभ्यासाद्वा वशी कुर्यात् ... .. ५१२३ |          |
| अक्लेशैर्विषयैर्मुक्तो ... .. ११२९    |          | अर्यम्णे सोऽब्रवीत्सोऽपि ... .. ३१ २ |          |
| अभिज्योतिरहः शुक्ला ... .. ७१ २       |          | अविद्यागुणसाच्चिव्यात् ... .. २१२७   |          |
| अमौ सूर्ये तथा सोमे ... .. ९१३६       |          | अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं ... .. ६११५  |          |
| अच्छेद्य शस्त्रसंघातै- ... .. ११३८    |          | अव्यक्तोपासनाद्दुःख- ... .. ९१ ६     |          |
| अजोऽव्ययोऽहं भूतात्मा ... .. ३१ ९     |          | अष्टादशपुराणोक्तम् ... .. ११ १       |          |
| अतश्चाहर्निशं भुप ... .. ६११८         |          | असन्मृत्यु सदमृत- ... .. ७१२१        |          |
| अतस्तानीह सरुध्य ... .. ११६६          |          | असमर्थोऽपि तु स्वान्तं ... .. ९१११   |          |
| अतिदुःखं च वैराग्यं ... .. ५१३२       |          | असमर्थं निबध्यन्ते ... .. २१ ८       |          |
| अतिवादोऽभिमानश्च ... .. १०१ ४         |          | असंख्यनयनं कोटि ... .. ८१ ७          |          |
| अतो भक्त्या मयि मनो ... .. ९११०       |          | असंख्यवक्त्रललित- ... .. ८१ ६        |          |
| अतोऽसक्ततया भुप ... .. २११९           |          | असि त्वं सर्वविक्ताक्षी... .. ९१ २   |          |
| अथ गीतां प्रवक्ष्यामि... .. ११ ३      |          | अस्मिंश्चराचरे स्थित्या ... .. २१ २  |          |
| अथ वा मानसीं पूजां ... .. ७१ ९        |          | अहंमर्हि विहीता ... .. ३१३०          |          |
| अथैकविंशतिः स्वर्गा ... .. ११२६       |          | अहंमको दृष्टो नाथो ... .. ११२३       |          |
| अथैनदप्यनुष्ठानं ... .. ९११३          |          | अहमेव जगद्यस्मात् ... .. ११११        |          |
| अद्वंद्वोऽमत्सरो भूत्वा ... .. ३१२८   |          | अहमेव परं ब्रह्म ... .. ११२८         |          |
| अधर्मोपचयो धर्मो ... .. ३११०          |          | अहमेव महविष्णु- ... .. ११२२          |          |
| अनन्यभावस्त्वो सम्यक् ... .. ९१ १     |          | अहमेवाखिलं विश्वं ... .. ९१३७        |          |
| अनन्यशरणो यो मां ... .. ६१२०          |          | अहमेवापरो ब्रह्मा ... .. ३१ ८        |          |
| अनपेक्ष्य स्वशक्तिं य- ... .. १११०६   |          | अहमेश्वरः शास्ता ... .. १०११६        |          |
| अनाद्यनन्तं लांकादि ... .. ८१११       |          | अहं विष्णुश्च रुद्रश्च ... .. ९१३९   |          |
| अनारम्भेण वैधानां ... .. २१ ३         |          | अहं साक्षी जगच्छुः ... .. ११२७       |          |
| अनिष्टासौ च न द्वेष्टि ... .. ९११९    |          | आ.                                   |          |
| अनीर्घ्यन्तो भक्तिमन्तो ... .. २१३१   |          | आत्मज्ञानरतं ज्ञान- ... .. ३१४९      |          |
| अनेककामनावत्वं ... .. १०१ ९           |          | आत्मानात्मविवेकेन ... .. ११४७        |          |
| अनेकजन्मसंभूतिः ... .. ७१ ५           |          | आद्या संसाधयेन्मुक्तिं ... .. १०१ २  |          |
| अनेकानि च ते जन्मान् ... .. ३१ ६      |          | आनन्दमश्रुतेऽसक्तः ... .. ११२१       |          |
| अन्तरात्मानि यः प्रीत- ... .. २११७    |          | आभिचारिककर्तृत्वं ... .. १०१ ६       |          |
| अन्तर्निष्ठोऽन्तः प्रकाशो ... .. ४१२४ |          | आभ्यामुत्पद्यते सर्व- ... .. ६१ ६    |          |
| अन्तर्बाह्येन्द्रियाणां च... .. १११२९ |          | आर्जवं गुरुशुश्रूषा ... .. ९१२४      |          |

| श्लोकाद्याः                      | अ. श्लो. | श्लोकाद्याः                      | अ. श्लो. |
|----------------------------------|----------|----------------------------------|----------|
| आवृणोति यथा माया ... ..          | २।३८     | कर्तारमिति मां तेषां ... ..      | ३।१९     |
| आश्रित्य बुद्धिमानसी ... ..      | २।४०     | कर्तारं त्रिविधं विद्धि ... ..   | १।११८    |
| आसनेषु समासीनः ... ..            | ४।२६     | कर्भकारीन्द्रियग्रामं ... ..     | २। ५     |
| इ.                               |          | कर्मणा शुद्धहृदयः ... ..         | १।३९     |
| इच्छाऽव्यक्तं धृतिद्वेषौ ... ..  | ९।२२     | कस्यचित्पुण्यपापानि ... ..       | ४।१४     |
| इतरत्सुलभं राजन् ... ..          | ३।४३     | कामक्रोधौ महापापौ ... ..         | २।३७     |
| इति क्षेत्रं तथा ज्ञाता ... ..   | ९।४१     | कामश्चैव तथा क्रोधः ... ..       | २।३४     |
| इति तस्य वचः श्रुत्वा ... ..     | १।१३७    | कामाङ्कुरवियोगेन ... ..          | ३।२५     |
| इति ते कथितो राजन् ... ..        | १।१३५    | कामिनो हि सदा कामैः ... ..       | २।२५     |
| इत्थं योगं मयाऽऽख्यातं ... ..    | १।१३६    | कामो लोभस्तथा क्रोधो ... ..      | १०।२२    |
| इन्द्रियार्थाश्च संकल्प्य ... .. | ५। ३     | कायिकं वाचिकं बौद्धं ... ..      | ४।१७     |
| इन्द्रियाश्चान्विचरतो ... ..     | १।६३     | कायिकादित्रिधा भूतान् ... ..     | ३।३८     |
| इमं गोप्यतमं योगं ... ..         | १।१३९    | कारणे सति कामस्य ... ..          | ४।२३     |
| इष्टा देवाः प्रदास्यन्ति ... ..  | २।१२     | कार्याकार्यकृतीनां स ... ..      | २।१८     |
| ई.                               |          | कालेन बहुना चायं ... ..          | ३। ३     |
| ईदृशं विद्धिमेतत्त्व ... ..      | ६। १     | का शुक्ला गतिरुद्दिष्टा ... ..   | ७। १     |
| उ.                               |          | किरीटकुडलधरं ... ..              | ८।१२     |
| उच्छिद्याधर्मनिचयं ... ..        | ३।११     | किं क्षेत्रं कश्च तद्वेति ... .. | ९।२०     |
| उपकारं फलं वापि ... ..           | १। ८     | किं सुखं त्रिषु लोकेषु ... ..    | ४।२०     |
| ऊ.                               |          | कुर्वन्ति देवताप्रीतिं ... ..    | ३।१७     |
| ऊर्जो भवन्ति भूतानि ... ..       | २।१४     | कुर्वन्ति सकलं कर्म ... ..       | २।२९     |
| ए.                               |          | कुर्वन्ति सततं कर्म ... ..       | १।३३     |
| एककालं द्विकालं वा ... ..        | १।१४२    | कुर्वन्दर्ष च शोकं च ... ..      | १।११९    |
| एकस्मिन्मयि पश्य त्वं ... ..     | ८। ३     | कृत्वाऽन्तर्मातृकान्यास ... ..   | ७।१५     |
| एतदेव परं ब्रह्म ... ..          | ९।३०     | केवलं कर्मणां न्यासं ... ..      | ४। ६     |
| एतं पुराभव योगं ... ..           | ३। ४     | को वेद लीलास्ते भूमन् ... ..     | ८।२२     |
| एतां ब्रह्मधियं भूप ... ..       | १।६८     | क्रियायामक्रियाज्ञान- ... ..     | ३।२४     |
| एते दोषाः परित्याज्या ... ..     | ५।११     | क्रियायोगो वियोगश्च ... ..       | ४। २     |
| एवं कुर्वन्सदा योगी ... ..       | ५।१५     | क्रोधादज्ञानसंभूतिः ... ..       | १।५९     |
| एवं मां य उपसीत ... ..           | ७।१७     | क्लनलौ खमहंकारः ... ..           | ६। ४     |
| एवं यः कुरुते राजन् ... ..       | ४।३५     | क्षरं पञ्चात्मकं विद्धि ... ..   | ७। ४     |
| एषु त्रिषु प्रवृद्धेषु ... ..    | ९।३४     | क्षितौ सुगन्धरूपेण ... ..        | ६। ९     |
| ओ.                               |          | ख.                               |          |
| ओंकारः पावनं साक्षी ... ..       | ७।२०     | खगणं स्ववशं कृत्वा ... ..        | ९। ४     |
| क.                               |          | ग.                               |          |
| कदाचिदक्रियः कोऽपि ... ..        | २। ४     | गन्धर्वेषु मनुष्येषु ... ..      | १।४५     |
| करुणापूर्णहृदया ... ..           | १।१७     | गुणैर्बिभिरियं देहे ... ..       | ९।३१     |
|                                  |          | गुरुविज्ञाद्विजातीनां ... ..     | १।१ २    |

| श्लोकायाः                          | अ. श्लो | श्लोकायाः                           | अ. श्लो |
|------------------------------------|---------|-------------------------------------|---------|
| <b>च.</b>                          |         | <b>द.</b>                           |         |
| चतुर्विंशलक्षरो यो ... ..          | ४१२९    | तथा तथाऽस्य तं भाव ... ..           | ६१९४    |
| चतुर्वेदार्थतत्त्वज्ञाः ... ..     | ८१२४    | तदकर्म च कर्मापि ... ..             | ३१२२    |
| चत्वारो हि मया वर्णाः ... ..       | ३११८    | तदस्थिरं जन्ममृती ... ..            | १११ ६   |
| चित्तशुद्धिश्च महती ... ..         | ११३६    | तदग्राम संनियम्याऽऽदौ ... ..        | २१ ६    |
| चिन्तयानस्य विषयान् ... ..         | ११५८    | तन्नीप्रमादभूत ... ..               | १११२५   |
| चैत्ये सवल्लिके देशे ... ..        | ५१ ९    | तपोऽपि त्रिविधं राजन् ... ..        | १११ १   |
| <b>ज.</b>                          |         | तप्तः श्रान्तो व्याकुलो वा ... ..   | ५१ ७    |
| जनाः स्युरितरे राजन् ... ..        | ३११६    | तभिदानीमह वक्ष्ये ... ..            | १११९    |
| जन्तूनां हितकर्तारम् ... ..        | ४१३७    | तस्मात्कर्माणि कुर्वीत ... ..       | ११३७    |
| जहाति यदि कर्माणि ... ..           | ११३८    | तस्मादेतत्समुत्सृज्य ... ..         | १०११७   |
| जित्वा प्राणान्प्राणगती ... ..     | ३१३६    | तस्मान्नियम्य तान्यादौ ... ..       | २१४१    |
| जीवन्मुक्तः स योगीन्द्रः ... ..    | ५११८    | तामसीं ये श्रिता राजन् ... ..       | १०१११   |
| जीवन्मुक्ताहरदे मन्त्राः ... ..    | १११४    | तुल्यं प्रकृत्या कुरुते ... ..      | २१३३    |
| जेतारः षडरीणां ये ... ..           | ४१२५    | तेजोऽभयमहिंसा च ... ..              | १०१ ३   |
| ज्ञानखड्गप्रहारेण ... ..           | ३१५०    | तेषु वेत्ति पृथग्भूतं ... ..        | ११११२   |
| ज्ञानचक्षुरह तेऽथ ... ..           | ८१ ४    | त्यक्त्वा राज्यं कुटुम्बं च ... ..  | १११३८   |
| ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठा ... ..      | २१ १    | त्रयीविप्रतिपन्नस्य ... ..          | ११५१    |
| ज्ञाननिष्ठात्तपोनिष्ठात् ... ..    | ५१२७    | त्रिविधस्यापि दुःखस्य ... ..        | ११६१    |
| ज्ञानविज्ञानसपन्ने ... ..          | ४११७    | त्वमिन्द्रेऽमिथमथैव ... ..          | ८१२०    |
| ज्ञानं च त्रिविधं राजन् ... ..     | ११११०   | त्वमेव तत्त्वतः सर्वा ... ..        | ८१ २    |
| ज्ञेया मत्प्रकृतिः पूर्वं ... ..   | ६१ ३    | <b>द.</b>                           |         |
| <b>त.</b>                          |         | ददाति तस्य तुष्टोऽसौ ... ..         | १११५१   |
| तज्ज्ञं त्वं विद्धि मां भूप ... .. | ११२३    | दानं द्विजानां शुश्रूषा ... ..      | १११३३   |
| तज्ज्ञानविषयं राजन् ... ..         | ११२६    | दाढर्यं शौर्यं च दाक्ष्यं च ... ..  | १११३१   |
| तज्ज्ञेयं पुरुषव्याघ्र ... ..      | ३१४०    | दिव्यदेहधरो योगी ... ..             | ५१२५    |
| ततश्च सर्वभावेन ... ..             | ११३५    | दुर्ज्ञेयं चातिसूक्ष्मत्वात् ... .. | ११२९    |
| ततस्ततः कृषदेतत् ... ..            | ५११४    | दृश्यादृश्यमिदं सर्वं ... ..        | ७१ ३    |
| ततः क्षेत्रं समासाद्य ... ..       | १११४    | दृष्टवैश्वरं परं रूपं ... ..        | ८१ ८    |
| ततः सर्वाणि भूतानि ... ..          | ३१४४    | देवा मनुष्या नागाद्या ... ..        | ८११८    |
| ततो राजा वरेण्यः स ... ..          | ८१ ५    | देहम त्रभृतो भूप ... ..             | १११८    |
| तत्तत्कर्म च वीर्यं च ... ..       | ३११३    | दैवान्नि सृत्य नरकात् ... ..        | १०११२   |
| तत्तेऽहं शृणु वक्ष्यामि ... ..     | ६१ २    | दैव्यामुरी राक्षसी च ... ..         | १०१ १   |
| तत्रापि त्वमेशक्तश्चेत् ... ..     | १११२    | द्रव्येण तपसा वाऽपि ... ..          | ३१३४    |
| तत्त्वमत्र निबोधुं मे ... ..       | ६१ ७    | द्रव्यदुःखसहो द्वेष्टा ... ..       | ४१ ३    |
| तत्त्वविद्योगयुक्तात्मा ... ..     | ४१ ८    | द्विजे हरदे महानया ... ..           | ११४४    |
| तत्त्वं मुमुक्षुणा ज्ञेयं ... ..   | ३१२३    | द्विविधा गतिरुद्दिष्टा ... ..       | ६१२१    |
| तत्सर्वमप्येदं ... ..              | ४१ ९    | द्विविधान्यपि कर्माणि ... ..        | ३१४५    |
|                                    |         | द्विविधोऽपि हि योगोऽयं ... ..       | ५११९    |



| श्लोकाद्याः                        | अ. श्लो | श्लोकाद्याः                      | अ. श्लो. |
|------------------------------------|---------|----------------------------------|----------|
| <b>ध.</b>                          |         |                                  |          |
| धर्माधर्मफले त्यक्त्वा ...         | ११४९    | पावयन्त्यागिल्लोकान् ...         | ११३      |
| धर्माधर्मौ जहातीह ...              | ११४८    | गिहययन्ति मृगांस्ते न ...        | ४३१      |
| धीनपाबलिनां चाहं ...               | ६११     | पुनर्योगी भवत्येष ...            | ५१२६     |
| ध्यानं ध्येयः स्तुतिः स्तोत्रं ... | ७११९    | पुनः पापसमाचारा ...              | १०१३     |
| ध्यायन्तः परमं ब्रह्म ...          | ११५५    | सुमान्यत्कुरुते पापं ...         | २३६      |
| <b>न.</b>                          |         | पुराणश्रवणं नैव ...              | १११४४    |
| न कुर्वेऽहं यदा कर्म ...           | २१२३    | पुग सर्गादिसमये ...              | ३१६      |
| न क्रिया न च कर्तृत्वं ...         | ४११३    | पूजयेन्मां प्रयत्नेन ...         | ७११०     |
| न ज्ञानसमतामेति ...                | ३१४६    | पूरकं कुम्भकं चैव ...            | ४१३३     |
| न तदस्ति यदेतैर्यन् ...            | १११२६   | प्राध्वन्यां स्वर्गलोके च ...    | १०११०    |
| नमामि त्वामतः स्वामिन् ...         | ८११     | प्रतिपत्तिमतो ज्ञानं ...         | २३९      |
| न मां विन्दन्ति पापिष्ठा ...       | ६१११    | प्रमाणभेदतो विद्मि ...           | ४१२८     |
| न यज्ञैर्न व्रतैर्दानैः ...        | १११४३   | प्रमादाज्ज्ञानसहितः ...          | १११२०    |
| न योगं योगमित्याहुः ...            | ११६     | प्रभुता मन औन्नत्यं ...          | १११३२    |
| न विनश्यति मद्रक्षां ...           | ७२४     | प्रलयानलरीप्तास्यं ...           | ८११७     |
| न स योगः स्त्रिया योगो ...         | ११८     | भाग न मिन्द्रियाणां च ...        | ३१३३     |
| नातिभुञ्जन्सदा योगी ...            | ५११२    | प्राणायामं त संरोधं ...          | ४१२७     |
| नानावस्तुकयो भूमेः ...             | १११३३   | प्राणायामैर्द्वादशभिः ...        | ४१३४     |
| नानाविधेषु भूतेषु ...              | १११११   | प्राणोऽपि तथा प्राण ...          | ३३५      |
| नानाविभूतिभिरहं ...                | ७१२५    | प्रियाप्रिये प्राप्य हर्ष- ...   | ४११९     |
| नानासङ्ग जनः कुर्वन् ...           | ३१४१    | <b>फ.</b>                        |          |
| नानिलस्व नानलत्वं ...              | १११०    | फलतृष्णा विहाय स्यात् ...        | ३१२६     |
| नित्यं ब्रह्म प्रयान्येते ...      | ३१३७    | <b>ब.</b>                        |          |
| नित्यं नैमित्तिकं तस्मात् ...      | २१३०    | बहिर्दृष्टया च समया ...          | ११४१     |
| निन्दकत्वं च वेदानां ...           | १०१७    | बुद्धैर्ब्रह्मात्मनाऽऽत्मानं ... | २१४३     |
| निरहंममना बुद्धिः ...              | ९१५     | ब्रह्मक्षत्रियाविद्गुदाः ...     | १११२८    |
| निरीहं योऽभिजानाति ...             | ३१२०    | ब्रह्मणो मयप. स्तेनो ...         | ११४५     |
| निरीहा निर्भया रोषा ...            | ३११४    | ब्रह्मचारी गृहस्थो वा ...        | ७१११     |
| निरीहो निगृहीतात्मा ...            | ३१२७    | ब्रह्मरूपं जगत्सर्वं ...         | ४१३६     |
| निमलो यः चित्तात्मा ...            | ४१७     | ब्रह्मविष्णुशिवेन्द्रादयान् ...  | ६११९     |
| निष्ठुरत्वं मदो मोहो ...           | १०१५    | ब्राह्मणो वैधमुत्पन्नम् ...      | २११५     |
| नैदं रूपं महाब हो ...              | ८१३     | <b>भ.</b>                        |          |
| <b>प.</b>                          |         | भक्तिमानिन्द्रियजयी ...          | ३१४७     |
| पञ्च भूतानि तन्मात्राः ...         | ११२१    | भक्तिश्चैवाऽऽदरश्चात्र ...       | ९१७      |
| परमां सिद्धिमापन्नाः ...           | २२०     | भक्तिहीनोऽश्रद्धधान. ...         | ३१४८     |
| पाखण्डबाह्ये विश्वासः ...          | १०१८    | भक्त्यैकचेतसा चैव ...            | ७१८      |
| पातात्मनां ह्यमुद्राणां ...        | ८१९     | भगवन्मरदो मया ...                | ८११      |
|                                    |         | भजन्भक्त्या विहीनो यः ...        | १०१८     |

| श्लोकः                     | अ. श्लो. | श्लोकः                       | अ. श्लो. |
|----------------------------|----------|------------------------------|----------|
| विध्यन्ति ततो लोका         | २१२४     | ये चैव नानुनिष्ठन्ति...      | २१२२     |
| अत्रे मासि सिते पक्षे...   | ११४९     | येन केनचिदाच्छिन्ना...       | १११६     |
| गीता लोकास्तथा चाहं        | ८११६     | येन येन हि भावेन ...         | ३११५     |
| वाऽन्तरिक्षे स्वर्गोश्च    | ८११०     | येन येन हि रूपेण ...         | ९१४०     |
| तृणशुद्धिं विधायाऽऽदौ      | ७११४     | येनामृतमयो भूत्वा ...        | ११२      |
| दत्तस्त्रिविधं कर्म ...    | ११११४    | ये मां सम्यगुपासन्ते ...     | ७१६      |
| म.                         |          | योगप्राप्त्यै महाबाहो ...    | ५१२      |
| त एव महाबाहो ...           | ३१७      | योगभ्रष्टस्य को लोकः ...     | ५१२४     |
| सोऽस्मिरापो धरणी ...       | ११२४     | योगमन्य प्रवक्ष्यामि ...     | ११४०     |
| द्वन्द्वदेवं यो भक्त्या    | ७११२     | योगहीनो नरः कर्म ...         | ४१११     |
| वर्धयानि कर्मणि ...        | २१९      | योगं नानाविधं भूप ...        | १११२     |
| द्विक्तो मत्परः सर्व ...   | ८१२६     | योगिनं केचिदपरे ...          | ३३१      |
| नसा सकलं कर्म ...          | ४११२     | यो गीतां सम्यगभ्यस्य ...     | ११४१     |
| त्रिष्टा मद्भियोऽत्यन्तं   | ४११६     | ये गी प्रहं दुर्ग्रहस्य ...  | ५१२०     |
| मताहकृती त्यक्त्वा         | १६७      | योगेन यो मामुपैति ...        | ५११६     |
| न मृच्छा च यं वाक्यं       | ११३      | योगो नेन्द्रपदस्यापि ...     | १९       |
| नानानि खिन्नामन्           | ११५२     | योगो यः पितृमात्रादेः ...    | ११७      |
| नानेऽप्यमने दुःखे च...     | ५१५      | यो मां मूर्तधरं भक्त्या ...  | ९१३      |
| य.                         |          | यो मे तत्त्वं विजानाति ...   | ६११२     |
| य इमं भ्रातृयेषो ...       | १११०     | योषितोऽथ दुराचारा ...        | ७१२३     |
| यज्ञोऽहमीषां मन्त्रो ...   | ७११८     | यो ह्यन्यदेवतां मां च ...    | ७११३     |
| यत्नस्तानि पराण्यहुः ...   | २१४२     | र.                           |          |
| यथा यथा नरः कश्चित्        | ११३२     | राजन्ब्रह्मापि त्रिविधः ...  | १११२७    |
| यथाऽयं यमठोऽङ्गनि ...      | १५४      | राजसी सा तु विज्ञेया ...     | १०११९    |
| यदनादीन्द्रियैर्हीनं ...   | ९२७      | रिपौ मित्रे च गर्हायां ...   | ९११६     |
| यदा ह्यज्ञानशालुषं ...     | १५०      | रोगाप्तौ चैव भोगाप्तौ ...    | ११२      |
| यदेव प्राप्यते त्यागात्    | ४१५      | ल.                           |          |
| यद्वहृक्केशातः कर्म ...    | ११११५    | लोभोऽक्षमः सृष्टाऽऽरम्भः ... | ९१३२     |
| यद्यत्करोति तत्त्वर्धे ... | ७२२      | व.                           |          |
| यस्तु वेश्यामनस्तत्त्वं    | २१२८     | वदान्तं भिन्नफलकौ ...        | ४१४      |
| यस्य यद्विहितं कर्म ...    | ११३५     | वर्णान्सृष्ट्वाऽदं चहं ...   | २११०     |
| यं यं देव स्मरन्भक्त्या    | ६११७     | वर्गाश्रमान्मुनीन्साधून्     | ३११२     |
| यं वीक्ष्य न भय याति       | ९११८     | वश्यः स्वर्गो जगत्तपो        | ४११८     |
| यः पठेत्प्रयतो नित्यं ...  | १११४७    | वसवो मनवो गावो ...           | ११२५     |
| यः स्मृत्वा त्यजति प्राणं  | ६११६     | वसुधा दैत्यगणैः ...          | ८११४     |
| यामिमां पुष्पितां वाचं     | ११३२     | वासनामहितादायात् ...         | ३१३१     |
| या रात्रिः सर्वजन्तूनां    | ११६४     | विघ्नश्चरमहाबाहो ...         | ११४      |
| युक्तस्थानि बध्ने कृत्वा   | ११५७     | वितृष्णः सर्वमौख्येषु ...    | ११५३     |

| श्लोकायाः                    | अ. श्लो. | श्लोकायाः                     | अ. श्लो. |
|------------------------------|----------|-------------------------------|----------|
| विद्यार्थिनो भवेद्विद्या ... | ११५२     | समो मां वस्तुजातेषु ...       | ११५३     |
| विधिवाक्यप्रमाणार्थे ...     | ११५७     | सम्यग्गन्धर्वसिता राजन् ...   | ११५५     |
| विना द्वेषं च रागं च ...     | ११६०     | सर्वदा षड्विकारेषु ...        | ११२९     |
| विना प्रसादं न मतिः ...      | ११६२     | सर्वेन्द्रियाण्यधिष्ठाय ...   | ११३८     |
| विपाक्षिततते भूप ...         | ११५६     | सर्वेषां भूप यज्ञानां ...     | ३१३९     |
| विभिन्नत्वमति जज्ञात् ...    | २१२६     | सबाहनां सायुधां च ...         | ११५०     |
| विमूढा मोहजालेन ...          | १०१५     | सरितां पतिमायान्ति ...        | ११६५     |
| विवेकेनात्मनोऽज्ञान ...      | ११५५     | संकल्पजास्त्यजेत्कामान् ...   | ५११३     |
| विश्वभृच्छाखिलव्यापि ...     | ११२८     | संन्यास्तिश्चैव योगश्च ...    | ४१५      |
| विषयाणां तु यो भोगो ...      | १११२४    | संपरावृत्य स्वार्थेभ्यः ...   | ११५६     |
| विषयैः ककचैरेतत् ...         | ५१२९     | संपादयन्ति ते भूप ...         | ११३५     |
| विषयोत्थानि सौख्यानि ...     | ११२२     | संयमाग्नौ परे भूप ...         | ३१३२     |
| विषवद्भासते पूर्व ...        | १११२२    | संशीलयति यश्चैनं ...          | १११८     |
| विष्टे मे न साध्योऽस्ति ...  | २१२      | संसृतीनां महाचक्रं ...        | २११६     |
| वेत्तारमक्षरं वेद्य ...      | ८११५     | साक्षात्करोति मां कश्चित् ... | ६१८      |
| वेदशास्त्रपुराणानां ...      | १११३०    | साऽपि भक्तिविधा राजन् ...     | १०११८    |
| वेदेनाविहितं कूरं ...        | १०१२०    | सांप्रतं चावर्तं णोऽपि ...    | ३१५      |
| व्यावर्तन्तेऽस्य विषयाः ...  | ११५५     | सिंह शार्दूलक वाऽपि ...       | ४१३०     |
| श.                           |          | सुखं च त्रिविधं राजन् ...     | १११२१    |
| शक्योऽहं बीक्षितुं शतुं ...  | ८१२५     | सुखं दःखेतरं द्वेषे ...       | ५११७     |
| शस्तोऽगुणो निजो धर्मः ...    | २१३१     | सुरविद्याधरैर्यक्षैः ...      | ८११३     |
| शिवे विष्णौ च शक्तौ च ...    | ११२०     | सुरांश्चानेन प्रीणध्वम् ...   | २१११     |
| शुकायाः सनकाश्च ...          | ११९      | सुलभास्ताः सकामानां ...       | १०१५४    |
| शैवस्य योगो नो योगो ...      | १११०     | गुह्यत्वे च रिपुत्वे च ...    | ५१५      |
| शोषयन्तो निजं देहं ...       | १०१२१    | सोऽपि मामेलानर्दय ...         | ११५      |
| श्रेयसी बुद्धिरावृत्ते ...   | १११५     | ब्रह्मसागोवधादीनां ...        | १११५६    |
| श्रेयान्यकुर्वते कर्म ...    | २१२१     | स्थिरचित्तो जपेऽमन्त्रं ...   | ७११६     |
| श्रौतस्मार्तानि कर्माणि ...  | ५११      | स्नानदद्याद्यलंकार- ...       | ७१७      |
| स.                           |          | स्मृतिलोपश्च सूक्तं ...       | ५११०     |
| सत्त्वाधिकः सुखं ज्ञानं ...  | ११३३     | स्वस्वकर्मरता एते ...         | १११३५    |
| सत्सहादृणसंभूतिः ...         | ३१५२     | ह.                            |          |
| स वनावतिजीर्णे गोः ...       | ५१८      | हुतावशिष्टभोक्तारो ...        | २११३     |
| समदाष्टदेहा भक्ति- ...       | ११२५     | हृदहीनमसत्यं च ...            | ११११३    |
| समो जितात्मा विज्ञानी ...    | ५१६      |                               |          |

इति श्रीमद्भणेशगीताश्लोकाद्यचरणानां

वर्णानुक्रमः समाप्तः ।

















